समाज की बेदी पर

श्री अनूप, साहित्यरत्न

युगांतर-साहित्य-माला का प्रथम पुष्प

लेखक—
श्रीअनूपलाल मण्डल, साहित्य-रत्न

प्रकाशक—

प्रथम संस्करण } १९८८ { मूल्य अजिल्द १॥) सजिल्द १॥।)

श्रीयुत सरदार गुरुप्रसाद सिंह

उत्सर्ग-पत्र

जिनका पर-हित-चिंता ही प्राण है; जो दीनों को अपना हृदय-
दान कर भी नहीं अघाते; विश्व-सेवा ही जिनका शृंगार है;
जो स्वयं तो अज्ञात रहना चाहते हैं, पर गुणावली जिन्हें
अज्ञात नहीं रहने देती; जिनकी वाणी में कोमलता के
साथ मधुरता, हृदय में उच्चविचार के साथ
सहृदयता और आँखों में प्रफुल्लता के साथ
प्रेम का नशा है; जो संगीत-साहित्य-कला के
कुशल जानकार हैं, और जिनका मैं 'बिना
दाम का चेरा' हूँ,

उन—

उँचला (पुर्णियाँ) के जमींदार और खालसा-पुस्तकालय-प्रवर्त्तक

श्रीमान् सरदार गुरुप्रसादसिंहजी महोदय

के कर-कमलों में

साहित्य-सेवा के उत्साह-दान-स्वरूप

सुदामा-तंडुलवत्

यह तुच्छ-कृति

सादर-सप्रेम-सश्रद्धा समर्पित ।

अनुगत—

अनूप

प्रकाशक का नम्र निवेदन

आज छोटा-सा दिल और ऊँची अभिलाषाएँ लेकर हम वास्तव में बौने होकर आकाश-पुष्प तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं ! पर, विवशता है हमारी । हृदय ने नहीं माना, क्योंकि, कर्तव्यानुरोध था सामने। कारण है, हम नित्य-प्रति अपने सामाजिक और पारिवारिक अंगों पर जो घाव देखते आ रहे हैं, वे शीघ्र भर जानेवाले नहीं दीखते । उनके लिये ऐसे वैद्यों की आवश्यकता है, जो नश्तर लगाने में—घाव को अच्छी तरह से चीर-फाड़कर चारों ओर से दबा-दबा मवाद निकालने में—खूब कठोर हों । जरूर, ऐसे वैद्यों का—प्रकाशकों वा लेखकों का—आज हिंदी-संसार में अभाव नहीं । फिर भी ऐसे वैद्य—ऐसे प्रकाशक अभी—कम हैं, उनकी कमी हमें खटक भी रही है, जो निर्भीकतापूर्वक—कठोरता किंतु सहानुभूति के साथ—नश्तर लगा सकें—युगांतरकारी विचारों को सामने रख सकें। हमसे इसकी भलीभाँति पूर्ति हो सकती है या नहीं, नहीं कह सकते, पर, संभव है, इसकी आंशिक-पूर्त्ति हमारे ही हाथों से हो, जिसका हमें पूर्ण विश्वास है। हाँ, चाहिए केवल जीवन !

राष्ट्र या देश का साहित्य से कितना गहरा संबंध है—

यह किसी से छिपा नहीं है। यदि हम कहें कि साहित्य ही राष्ट्र का एक-मात्र निर्माता है, तो कोई अत्युक्ति नहीं। अभी देश की परिस्थिति, चाहे सामाजिक हो वा राजनीतिक, जैसी है, उसे देखते हुए यही कहा जा सकता है कि इस समय युग-परिवर्तनकारी साहित्य की, देश की हित-चिंता के लिये, नितांत आवश्यकता है। अभी देश को सर्वतोमुखी क्रांति चाहिए। इसके विना राष्ट्रीयता आ नहीं सकती—इसके भाव जम नहीं सकते। इसी विचार को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये हमें 'युगांतर-साहित्य-मंदिर' की स्थापना करनी पड़ी है। इसके द्वारा स्थायी रूप से एक 'युगांतर-साहित्य' का प्रकाशन होगा, जिसकी यह पहली पुस्तक सेवा में उपस्थित है।

प्रस्तुत रचना के संबंध में हमारा कुछ कहना वाचालता ही होगी; इसके गुण-दोष का विवेचन तो सहृदय सत्मालोचक ही करेंगे। हाँ, हम अपनी ओर से कुछ कह सकते हैं तो यही कि पुस्तक का उद्देश अवश्य महत् है। तरुण लेखक ने समाज के अंतस्तल में एक नवीन किंतु भव्य-भाव के बैठाने का प्रयत्न किया है, जो उनके विशाल हृदय का परिचायक है, और जिसे हम समय के सर्वथा उपयुक्त समझते हैं। आशा है, तरुण-दल अग्रसर होगा।
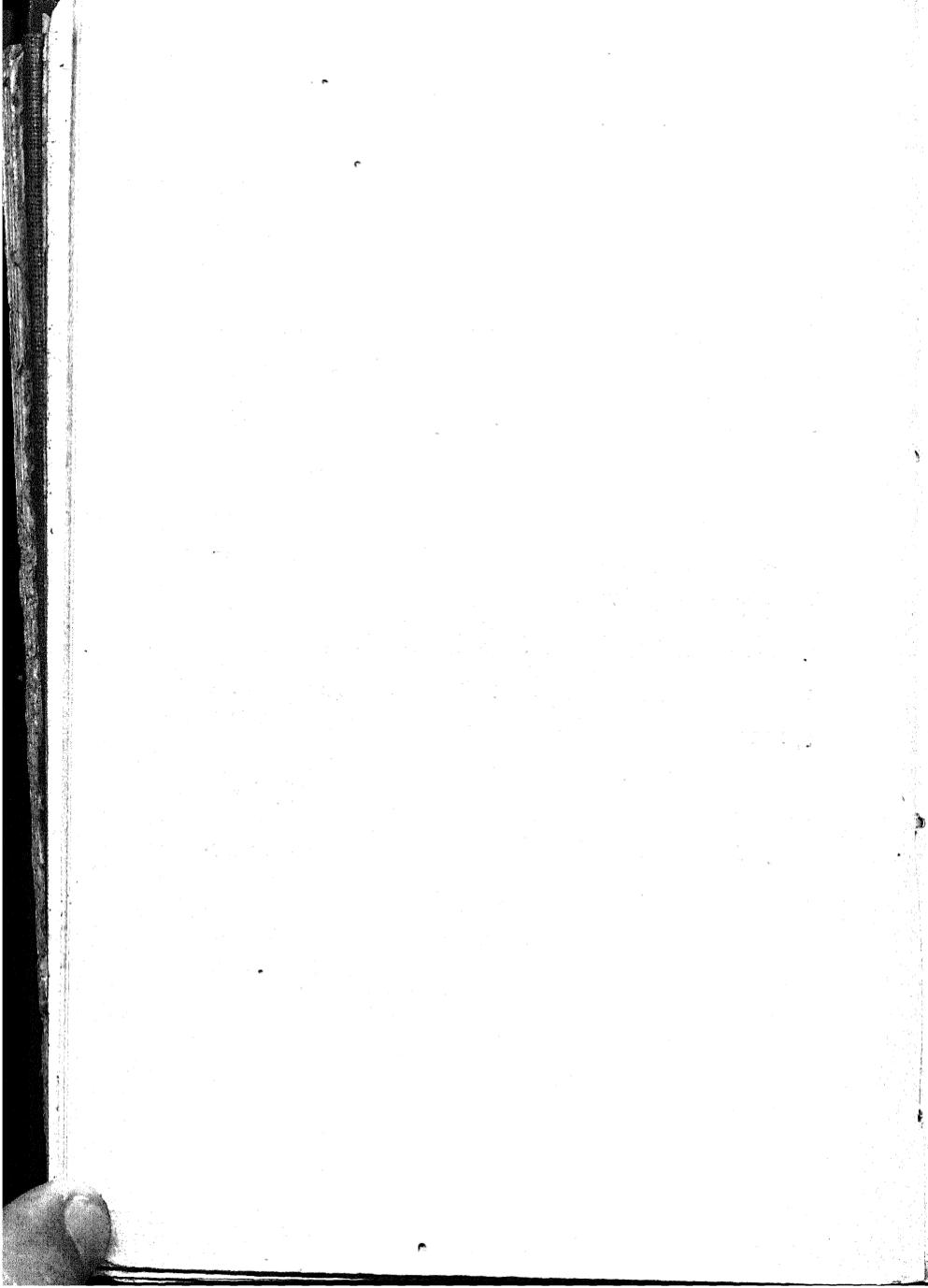
हाँ, यहाँ हम यह भी निवेदन कर देना चाहते हैं कि 'मंदिर' की सभी पुस्तकें वाह्याडंबर से रहित अवश्य रहेंगी।

हम व्यर्थ का बोझ अपने पाठकों पर लादना नहीं चाहते। फिर भी हम इनके वाह्य सौष्ठव और सौंदर्य से उदासीन भी नहीं हैं। कम-से-कम पुस्तकों की छपाई-सफाई तो अवश्य ही सुंदर होगी। हमारा आदर्श है—'सादा जीवन और उच्च विचार।' यही कारण है कि हम बहिरंग की सुंदरता पर उतना ध्यान न देकर अंतरंग को सुष्ठु बनाने का सफल-प्रयत्न करेंगे। आशा है, हमारे प्रेमी पाठक हमारे विचार पर प्रसन्न होंगे।

हाँ, एक निवेदन और। जहाँ हमारा काम है—माला को सब प्रकार से उपादेय बनाना, वहाँ आपका काम होना चाहिए—इस वृक्ष को अपनी स्नेह-सुधा से सींचना। यदि आपने इस कार्य में सहयोग दिया, हमारा हाथ बँटाया, तो हम दावे के साथ कह सकते हैं—हमारी सेवा से आप संतुष्ट हुए बिना न रहेंगे।

विजयादशमी, १९८७

विनीत—
प्रकाशक

हमारी ओर से

उपन्यास लिखने के तीन ढंग प्रचलित हैं—एक प्रथम पुरुषात्मक, दूसरा उत्तम पुरुषात्मक और तीसरा पत्रात्मक। पहले में उपन्यासकार एक आलोचक की भांति पात्रों के चरित्र का विश्लेषण भी करता रहता है और कथा-वस्तु की धारा को भी प्रवाहित रखता है। दूसरे प्रकार के उपन्यासों में लेखक स्वयं वक्ता बन जाता है। यहाँ उसका क्षेत्र कुछ सीमित हो जाता है। पहले में लेखक विभिन्न पात्रों के हृदय में उठने वाली भावनाओं का निरूपण अबाध रूप से कर सकता है। पर इसमें उसे ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। तीसरे प्रकार के उपन्यासों में कुछ इने-गिने मुख्य पात्रों को लेकर उनका पत्र-व्यवहार दिखाया जाता है और केवल पत्रों के संग्रह से ही कथावस्तु और चरित्रालोचन का संकलन साथ ही हो जाता है। इसीलिये हमारे विचार से पिछली दो प्रणालियों पर उपन्यास-रचना अपेक्षाकृत कठिन है और इन दोनों में, पहली को दृष्टि में रखते हुए, कला को अधिक स्थान प्राप्त है।

पत्रात्मक उपन्यासों का प्रचार अभी कम हुआ है और हिंदी में तो बहुत ही कम। उपन्यास लिखने की इस पद्धति में

स्वाभाविकता बहुत अधिक आ सकती है और कला का निदर्शन भी साथ-ही-साथ भली भांति हो सकता है, यदि कुछ सतर्कता से काम लिया जाय। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने पर्याप्त सावधानी रखी है। यह पुस्तक प्रणेता का, इस ढंग का, प्रथम प्रयास है। सिद्धहस्त उपन्यासकारों की भांति प्रौढ़ता यद्यपि नहीं है, पर लेखक को अच्छी सफलता मिली है, इसमें सन्देह नहीं।

पुस्तक की मूल प्रति पढ़कर उसमें हमने यथावश्यक संस्कार भी किए हैं। क्योंकि पात्रानुकूल भाषा और चरित्रों के विकास को दर्शाने की विशेष रूप से आवश्यकता थी। सुधार करते समय पात्रों की भावुकता और कथावस्तु की प्रगति जानने की लिप्सा ने हमें कई बार इतना मग्न कर दिया कि हम अपना काम ही भूल बैठे। इन्हीं कारणों से हमने पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित कर डालने की बड़ी भारी आवश्यकता समझी।

प्रथम प्रयास में इतनी सफलता का संपादन कर लेना एक अभिनव लेखक के लिये परम प्रशंसा की बात है। पुस्तक की उपादेयता उसके पढ़ने से ही ज्ञात हो सकती है। हम आशा करते हैं कि हिंदी जनता पुस्तक का यथोचित आदर करेगी।

काशी,
रथयात्रा, १९८८ वि० } —विश्वनाथप्रसाद मिश्र

दो-शब्द

आज डरते-डरते आपके संमुख यह क्षुद्र-रचना लेकर उपस्थित होना ही पड़ा। इच्छा तो न थी कि मैं इसे प्रकाशित कराता। कारण, मेरा तो कार्य है—बैठे-बैठे, अवकाश-काल में, 'स्वांतः सुखाय' कुछ लिखा करना, जो मेरा एक प्रकार से व्यसन हो गया है। पर साथ ही,जहाँ एक ओर लिखने का रोग है—लगन है,वहाँ दूसरी ओर प्रकाशित कराने की उदासीनता। यही कारण है कि मैं हिंदी-जगत के सामने बहुत कम उपस्थित हो सका हूँ, और जब कभी हुआ भी हूँ, तो अपने अंतरंग मित्रों की बलवती प्रेरणा से ही। आज भी यही घटना हुई। यदि हमारे अभिन्न-हृदय मित्रों ने बलपूर्वक इसे प्रकाशित कराने को वाध्य न किया होता, तो कौन कह सकता है, इसकी पांडुलिपि दीमकों का आहार न बनी होतो। यदि मैं इसके द्वारा पाठकों का कुछ भी स्नेह-भाजन हो सका तो, इसका श्रेय हमारे उन्ही मित्रों को होगा।

प्रस्तुत रचना के संबंध में इतना ही कहना है कि इसकी कल्पना में मैंने कितनी ही मधुर रातें बिताई हैं, जिनकी स्मृति मेरे साथ रहेगी। संभवतः निशीथ की उस मधुर कल्पना से आपको भी परितृप्ति मिले।

अंत में, भूमिका-लेखक का तो मैं ऋणी हूँ ही, साथ ही अभिन्न-हृदय मित्र श्रीपरमेश्वरप्रसाद चौधरी बी० ए० प्रिय पं० लक्ष्मीनाथजी चतुर्वेदी, रामप्रसादसिंहजी, 'हसरत' और यशवंतसिंहजी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

समेली—पूर्णियाँ
श्रीकृष्णाष्टमी, १९८७

विनयावनत—
श्रीअनूपलाल मण्डल

स्थायी ग्राहक बनने की नियमावली

'युगांतर-साहित्य-माला' में केवल वही पुस्तकें प्रकाशित होंगी, जो सामाजिक, पारिवारिक, धार्म्मिक और राजनीतिक विचारों में युगांतर उपस्थित कर सकें। वर्त्तमान समय के लिए ऐसी पुस्तकें कितनी आवश्यक और अनिवार्य हैं, यह किसी से छिपा नहीं। अतः,पाठकों का ध्यान इधर आकर्षित किया जाता है।

(१) स्थायी ग्राहक वही सज्जन हो सकेंगे, जो केवल आठ आने प्रवेश-शुल्क पहिले जमा कर देंगे, वा पुस्तकों की वी० पी० मँगाते समय उसे जोड़ देने की अनुमति देंगे।
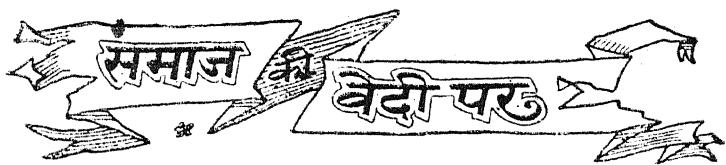
(२) स्थायी ग्राहक को "मंदिर" की पुस्तकें पौने मूल्य पर दी जायँगी।

(३) स्थायी ग्राहकों के पास, पुस्तकें छप जाने के बाद, सूचना-पत्र भेज दिया जायगा, और वे जिन पुस्तकों को लेना चाहेंगे, उनकी स्वीकृति आने पर, केवल वे ही पुस्तकें उनकी सेवा में भेज दी जायँगी।

(४) यदि स्थायी ग्राहक अपनी स्वीकृति-सूचना देकर भी वी० पी० छुड़ाने की कृपा न करेंगे, तो उनका नाम रजिस्टर से अलग कर दिया जायगा, और फिर जब तक वे और एक रु० प्रवेश-शुल्क न भेजेंगे, तब तक उनका नाम रजिस्टर्ड न किया जायगा।

व्यवस्थापक—
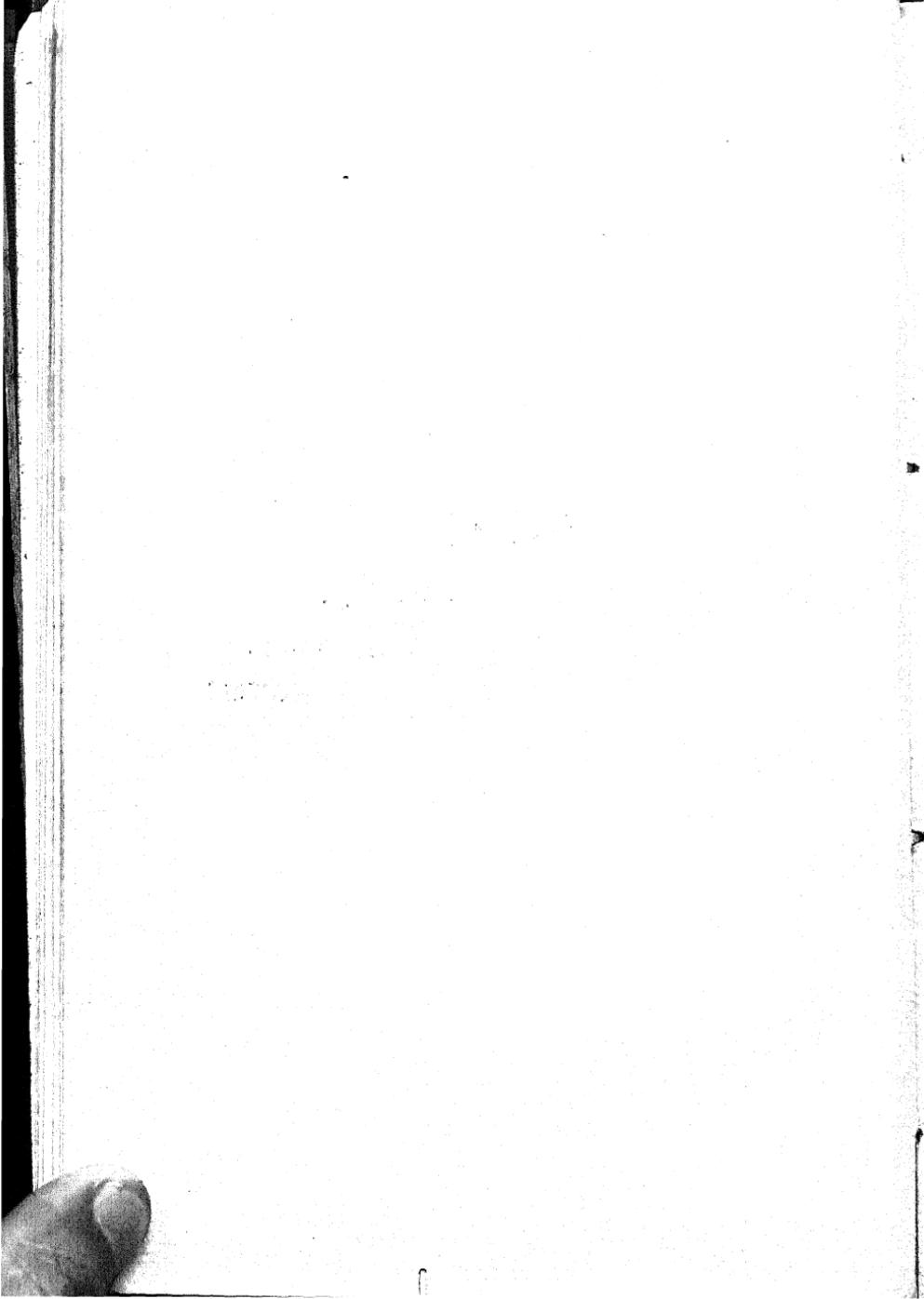
युगांतर-साहित्य-मंदिर

गुरु बाजार पो०, पुर्णियाँ।

समाज की वेदी पर

मेरी दिलरुबा,

आह ! तू कब से मेरे ख़त के इंतज़ार में पड़ी होगी, कुंदन ! मुआफ़ करना । तुझे शायद यक़ीन तो न होगा, लेकिन ख़ुदा का शुक्र है—मैं बाल-बाल बच गई । नहीं तो, आह ! आज मैं कहाँ होती ? किसीको भला क्या पता रहता ! तअज्जुब न करना ! बात ही कुछ ऐसी हुई । इसे न तो बात की सफ़ाई ही समझना और न ख़त लिखने का बहाना ही । मैं तो समझती हूँ तू ख़त न पाकर खीझ-सी ज़रूर गई होगी, तुनुक-मिज़ाज़ ठहरी ! अच्छा, चाहे मेरी बातें सच्ची न मानना, मैं मनवाती भी नहीं, फिर भी जैसा वाक़या गुज़रा है, उसे तो कम-से-कम तेरे सामने रख ही देती हूँ । दिल चाहे तो पढ़ना, नहीं तो, हाँ, रद्दी की टोकरी में ही डाल देना ।

अच्छा तो, कुंदन, सुनो । परसों के दिन शाम के वक़्त गंगा के किनारे लोगों की ख़ासी भीड़ थी । सभी अपने मन-चाहों के साथ इधर-उधर अठखेलियाँ करते हुए हवाख़ोरी कर रहे थे । गंगा की लहरों के साथ बहुत-सी छोटी-बड़ी किश्तियाँ खेल रही

थीं। न जाने मुझे कैसी शामत सवार हुई। मन ही तो था, मचल गया। उसपर कनीज, मरियम, जूही और गुलबदन मेरे साथ थीं। जैसी मैं भोली, वैसी ही वे आदत की हठीलीं। आखिर, हम लोगों ने किस्ती खोल ही दी। हम लोग बहाव में न जाने कब की बह चुकीं। उफ़!... खुदा न करे, अरमान पूरा करने के लिये कोई हठ का काम कर बैठे! अब भी, कुंदन, उसकी यादकर सारे जिस्म के काँटे उठ खड़े होते हैं। हाँ, तो हमलोगों की किस्ती बह चली। बड़ा मजा आ गया उस वक्त, जब लहरों पर हमारी किस्ती किलोल करने लगी थी। हमारी बहिनें तो निकली थीं लूटने दिल को! छिः! कितना नीच पेशा है! आपस में ठठोलियाँ करतीं, बे-सबब हँसतीं, गाने लगतीं, कभी अपने बदन को बिखरा देतीं। इधर—किनारे पर—कितने मनचलों की तड़पती आँखें हमारी ही किस्ती पर लगी थीं। क्या कहूँ, कुंदन, मुझे तो शर्म आती थी—उन सबों की चाल पर। मालूम पड़ता था, दुनिया की निगाहें इधर ही पड़ रही हैं। मैं अपने को उस गिरोह में पाकर झेंप रही थी! हाय खुदा! कहाँ तूने पैदा किया। कितनी नीच हैं, हम बदनसीब दुनिया की निगाहों में जन्नत की परी—नहीं, दोजख की आग! जहन्नुम में जाए यह मतवाली जवानी! आह!........।

तू कह सकती है, कुंदन, मैंने ऐसा किया क्यों ? बे-शक मैं गुनहगार हूँ। तूने मुझे बार-बार लिखा है—"कीचड़ में कमल उपजता है, कँटीले दरख़्त में गुलाब बहार लाता है। इससे न तो कमल की ही हतक़-इज्जती होती है और न गुलाब ही किसीकी आँखों में बुरा लगता है। गुनहगार भी अपने को आदमी बना सकता है, जब वह अपने गुनाहों को दोज़ख की राह पर छोड़ दे। खानदान के लिहाज से कोई बुरा नहीं समझा जाता, बुरा समझे जाने का सबब है— उसके दिल की बुराई— हाँ, दिल का खोटापन।' इन बातों को समझते हुए भी, मुझसे ग़लती हो ही गई। हाँ, दुरुस्त है। तेरी बातें न मानने की ख़ता मुझसे हो ही गई, बहिन ! मैं यक़ीनन गुनहगार थी ! फिर उससे कब बचने लगी !

अच्छा तो, कुंदन ज्यों-ज्यों शाम होती गई, हवा भी उसी तरह बढ़ती ही गई। चारो तरफ अँधेरा छा गया, तब भी हमजोलियों को लौटने की न सूझी। वहाँ तो वे जन्नत की बहार लूटने निकली थीं, लौटने की किसे सूझे ! आख़िर, बड़े जोर का तूफ़ान उठा। अब तो हमारी किश्ती उन लहरों पर थपकियाँ लेने लगी। सारा मजा किरकिरा—काफूर हो गया। जहाँ खुशी के चहचहे थे, वहाँ रोना-धोना जारी हुआ। सभी के होश ठंढे पड़ गए। फिर कौन किसकी सुनता है। बचने की

तदबीर ही भला क्या थी ! मल्लाहों ने कोशिश तो जान लड़ाकर की, मगर हिंदुओं की गंगा कबतक अपनी छाती पर दोज़ख़ का नज़ारा देखती ? आखिर किस्ती कहाँ गई—क्या हुआ ? किसीको कुछ पता न चला। वहाँ न रहे मल्लाह और न रहीं हमारी 'जन्नत की परियाँ' ! आह ! वह वाक़या जनम-भर कभी न भूल सकूँगी। मैं किनारे पर अकेली बेहोशी की हालत में कबतक पड़ी रही, निकालनेवाले ने कैसे उस तूफ़ानी दरिया से मुझे निकाला—कुछ भी पता न था। होश आने पर देखा—मेरे सामने बिहिस्त के फरिश्ता—सरग के देवता बैठे हैं, मेरा सिर उनकी गोद में पड़ा है !

कुंदन, तू सिहर उठेगी मेरी बीती-बातें सुनकर ! सच जानना हिंदू कितने दिल के ऊँचे होते हैं। हाय, अगर उनकी मेहर मुझ बदनसीब पर न होती, तो फिर मुझ-सी बला को दरियाए-तूफाँ से निकालने की वे क्यों तकलीफ़ गवारा करते !

हाँ, तो कुंदन, मैं शर्मो-हया से गड़ गई, जब उन्होंने मुझे हमदर्द निग़ाहों से देखते हुए कहा—'आप बच गईं, घबड़ाएँ नहीं। आपलोगों को इतनी रात तक जल-विहार नहीं करना चाहिए।' मैं क्या जवाब देती ? मैंने उस अँधियाले में लेटे-लेटे ही उनके चेहरे की तरफ़ देखा। देखा, कुंदन कैसी उनकी चमकती पेशानी थी। आँखें बड़ी-बड़ी हँसती

हुई। हाँ-हाँ, वे सचमुच सरग के देवता हैं, उन्होंने मुझे निकालने में कितनी तकलीफ़ें उठाई होंगी, इनकी सुध तो मुझे नहीं है, कुंदन, मगर जब मुझे होश हुआ, तब से मैं उनकी तकलीफ़ों को समझकर अब भी शर्माती हूँ। कितने नेक हैं वे, कितने हमदर्द ! उन्होंने जब मुझे अच्छी तरह होश में देखा, बे-अख्तियार खुशी उन्हें हासिल हुई। उन्होंने मुझसे कहा—'अब आप बहुत जल्द अच्छी हो जायँगी। कुछ भी अफ़सोस न करें। मैं आपको पहुँचा दूँगा अपने घर पर।' वे कुछ देर के लिये मुझे तसल्ली देकर उसी तरह रहने को कहकर दौड़ पड़े सड़क की तरफ़। मैं सोच ही रही थी कि इतने में वे आ गए—एक घोड़ा गाड़ी-लेकर। मैं तो उनकी अक्ल और मेहरबानी पर आप ही तअज्जुब कर रही थी। आख़िर, उन्होंने मुझे गोद में उठा लिया और लाकर गाड़ी में बैठा दिया। मैं इतनी कमज़ोर हो गई थी कि बैठ नहीं सकती थी। इसलिए, उन्होंने अपनी गोद में मुझे लिटा लिया। गाड़ी चल पड़ने पर उन्होंने पूछा—'कहाँ पहुँचा दूँ ?' इसी बार मुझे सबसे पहिले बोलना पड़ा। क्या करती ? उधर दिल में यह भी शक था कि कहीं ये मुझे वेश्या समझ-कर मुझसे नफ़रत न करें। इसलिये मैं कुछ भी नहीं बोल रही थी; यहाँ तक कि मैं, होश आने पर उनका शुक्रिया अदा

तक न कर सकी थी। मगर इस बार ? इस बार अब शर्मा-कर कर ही क्या सकती थी। कह दिया—'मैं गुलशन नामक वेश्या की लड़की हूँ। दालमंडी मकान नं० १६२ में मुझे......।' सुना—उनकी आहें, मेरा भी दिल-भर आया। सचमुच, मुझे उस वक्त कम रंज नहीं हुआ, कुंदन! शायद मुझे वेश्या समझ-कर उन्हें दुख तो नहीं हुआ होगा, मुमकिन है। मगर उनकी आँखें बता रही थीं कि वे कैसे हमदर्द और मेहरबान शख्स हैं। घर पहुँचने पर अम्माजान को सारा वाक़या मालूम हुआ। मैं नहीं कह सकती, उन्हें कितनी खुशी हुई होगी—मुझे जीती-जागती पाकर। इतना ही नहीं, सबसे ज्यादा तो 'उन्हें' देखकर हुई होगी। अम्मा ने उनसे बेहद खुशी जाहिर की, बड़ी आव-भगत की। आखिर, वे सभी तरह से मुझे तसल्ली देकर अपने डेरे की ओर चल पड़े। मैंने जाने के वक्त एक बार उनकी तरफ़ तिरछी-नजर से देखा और उन्होंने भी मेरी ओर—मगर, विहँसती हुई आँखों से। मैंने कहा—'क्या मुझे फिर नहीं......।' 'हाँ-हाँ, कल शाम को ही मैं आपको देख जाऊँगा। आप न घबड़ाएँ। कल ही आपकी कमजोरी रफ़ा हो जायगी'—जाते-जाते मेरी ओर देखते हुए उन्होंने कहा।

रात तो बड़ी मुशकिल से कटी। मुशकिल की वजह मेरी कमजोरी न थी। मैं आगे क्या कहूँ ? मुझे रह-रहकर

याद आती थी—कैसे मेहरबान थे वे! कितने सीधे-सादे! मगर, कितने बुलंद-ख्यालातों के!

सुबह हुई। मेरी आँखें किसीके इंतजार में गड़ी थीं। मैं तभी से खिड़कियों की राह बाहर की ओर झाँकती—इसलिये कि कहीं वे मेरी देख-रेख को पहुँच न जाएँ। दिन-भर तो मैं किसी तरह करवटें बदलती रही। आखिर, झुटपुटा होने को आया। मैं बैठकर आईने के सामने बाल सँवार रही थी। सचमुच मैं अपने आपको भुला ही बैठी थी। दरवाजा खुला ही था। अम्माजान कहीं दूसरी जगह चली गई थीं। वे निधड़क मेरे सामने आकर खड़े हो गए। मैं उठकर सलाम बजाने को ही थी कि मेरी शर्माई आँखें खुद-ब-खुद नीचे की ओर झुक गईं। फिर ऊपर करने की हिम्मत ही कहाँ?

उन्होंने मुझसे पूछा—कहिए, अब तबियत कैसी है?

न जाने कहाँ की निगोड़ी शर्म आ पहुँची। कुछ देर तक तो मैं बोल ही न सकी। वे भी लजा गए। मगर वे चुप रहने-वाले न थे। दूसरी बार उन्हें पूछना पड़ा—'मालूम पड़ता है, आपकी सिहत अब अच्छी है। अच्छी जान पड़ती है न?' अब मुझसे रहा न गया। जवाब न देना उनकी मानो हतक़-इज्जती करना था। मैं शर्माती हुई बोली—'हाँ, आपकी दुआ है।'

'दुआ'—उन्होंने कहा—'दुआ की कोई बात नहीं। मैं तो अचानक पहुँच गया था, उसी समय अँधेरे में चीख की आवाज़ आई। मैं कूद पड़ा और आपको डूबते हुए पकड़-कर बाहर ले आया। उम्मीद तो न थी, मगर भगवान ने लाज रख ली। इसमें मेरी दुआ तो नहीं, हाँ, भगवान की आप पर दया थी।'—बातें शीरींजबाँ थीं।

'मगर'—मैंने सकुचते हुए कहा—'भगवान भी तो किसीके सहारे ही मदद करते हैं? मददगार तो जरूर ही दुआ के लायक़ हैं!'

'चाहे जो समझें'—उन्होंने हँसते हुए कहा—'पर मैंने जो कुछ किया, इंसानियत के नाते से ही किया। मुझे इसी में खुशी है कि आप भली-चंगी हैं।'

मैं अब क्या कहती! मैं कटी-सी जा रही थी। मगर जैसे ही मैं उनका शुक्रिया अदा करना चाहती थी—'वे झट-पट चलने को तैयार हो गए। मैं घबड़ा-सी गई। मगर मेरे मुँह से ख़ुद-ब-ख़ुद निकल पड़ा—'थोड़ी देर तक आराम करें, मैं बाहर से अभी-अभी आती हूँ।' मुझे यक़ीन तो न था, लेकिन जब मैंने पान के बीड़े उनके सामने कर दिए, तो, उन्होंने बड़े तक़ल्लुफ़ के साथ कहा—'इतनी तक़लीफ़ करने की जरूरत क्या थी! मुझे पान से इतना शौक तो नहीं है,

फिर भी आपका दिल न दुखे—इस लिहाज़ से इसे मैं कुबूल करना ही अपना फ़र्ज़ समझता हूँ।' आखिर, उन्होंने मेरे हाथ से पान के बीड़े ले लिए। मैं सच कहती हूँ, कुंदन, उस समय उनके छू-जाने से, न जाने क्यों, मेरे बदन के सारे रोंगटे खड़े हो गए। आह! कैसा जादू था वह! कितना नशा था उनके छूने में! मैं वहीं धस-से बैठ गई। वे मेरी ओर देखने लगे, मैं सिर नीचे किए थी। मुझमें न तो इतनी ताक़त ही थी कि एक बार उनकी ओर भर-नज़र देख सकूँ, और न इतनी क़ूवत ही बाक़ी रही थी कि वहाँ से उठकर कुछ दूर जा बैठूँ। यह मेरी ज़िंदगी का पहिला मौक़ा था, कुंदन! हाय रे नशा!

"था कुछ-न-कुछ कि फाँस-सी इक दिल में चुभ गई।
माना कि उनके हाथ में तीरो-सनाँ न था॥"

अब मुझे और कुछ लिखने को बाक़ी नहीं। तू ही समझ सकती है, कुंदन, मैं कहाँ-की-कहाँ जा पड़ी थी और कहाँ लौट आई! क्या मैं उनके तईं शुक्रिया अदा न करूँ? आह, कितनी नमक-हराम समझी जाऊँगी मैं! तू ही बता, कुंदन!

अब मेरे दिल की क्या हालत है, तू ही कह सकती है। क्या मैं गुनहगार हूँ, अब भी? साफ़ कहना। मेरा दिल मेरे क़ाबू में न रहा। जितना ही दिल को समझाती हूँ, उतना ही और उलझन में जकड़ी जा रही हूँ।

"ज़ब्त कीजे दर्दे-दिल तो ज़ब्त की ताक़त नहीं।
और खुला जाता राज़े-दिल, अगर उफ़ कीजिए॥"

अभी इतना ही। दिल बे-जार है। अपना कुछ अख्तियार नहीं। अगर, ख़ुदा करे, जिंदा रही तो अपना सारा अहवाले-दिल पेश करूँगी, फिर कभी! मुआफ़ करना अगर ख़ता हो गई हो मुझसे। क्या मैं उम्मीद करूँ तुमसे ख़त पाने की, जल्द? कुंदन!

मैं हूँ तेरे लफ़्ज़ों में—
'हसीना शौसन'

पत्र—२
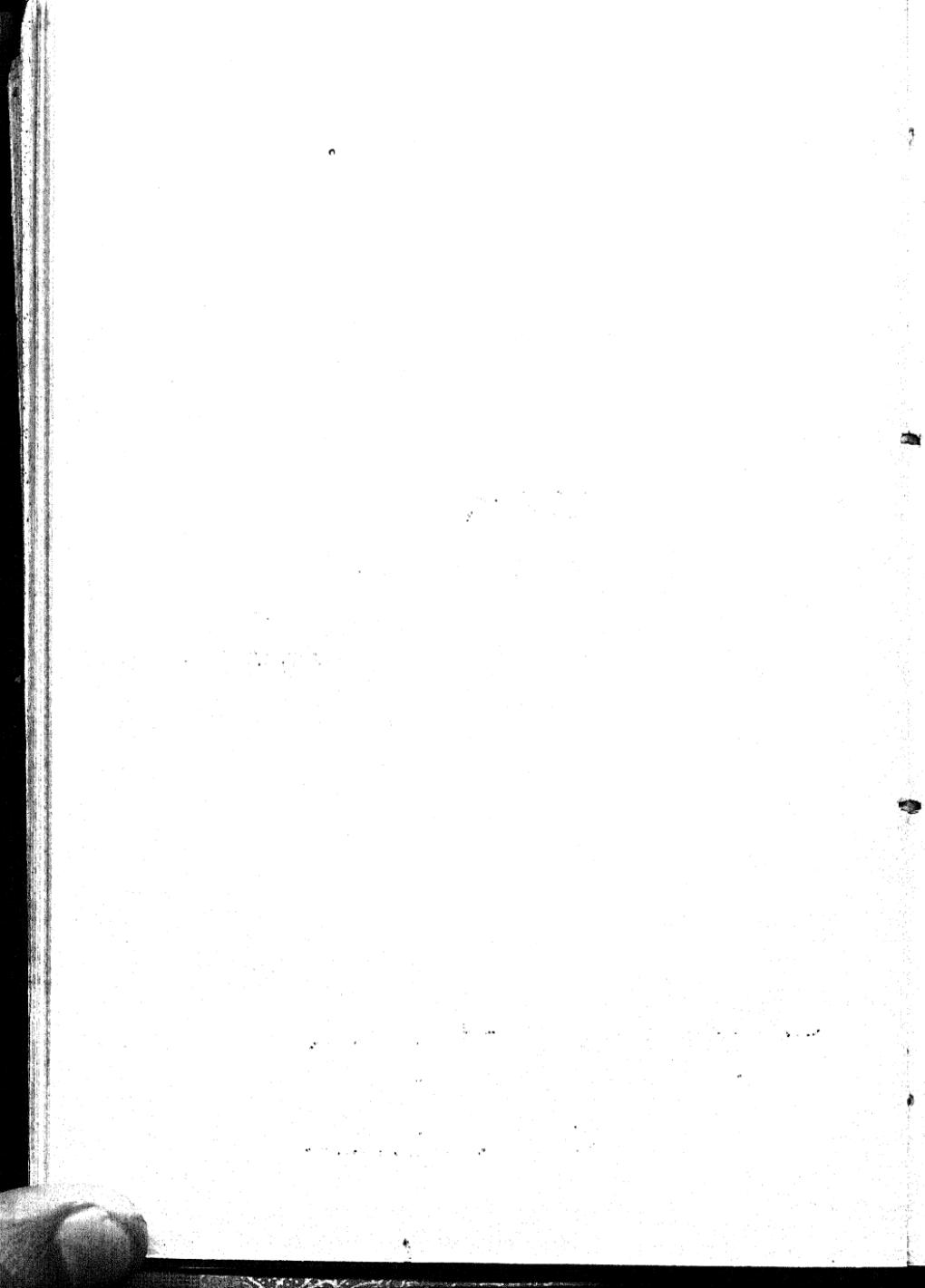
मिस हसीना शौसन,

१६२, दाल की मंडी,

चौक, बनारस।

हर-दिल अज़ीज़ हसीना,

मुबारक हो। तुम्हारे ला-जवाब ख़त ने मेरी रही-सही अक्ल पर पर्दा डाल दिया। मुझे पहिले यक़ीन तो न हुआ, मगर ज्यों-ज्यों ख़त पढ़ती गई, त्यों-त्यों दिल बे-अख्तियार होने लगा। मैं तअज्जुब में पड़ गई। कब तक पड़ी रही—कौन जाने। आख़िर मुँह से निकल पड़ा—'ख़ुदा का जलवा जो-जो रंग न दिखलाए। उसकी कोई इंतहा नहीं।' मेरी हसीना, ख़ुदा करे, तुम्हारी बड़ी उम्र हो। तुम दोज़ख़ की आग से बाल-बाल बच निकली हो—यही क्या कम ख़ुशी की बात है मेरे लिये! ख़ैर, ख़ुदा हाफ़िज़!

मेरी बहिन हसीना, तुम्हारे ख़ुशी के दिन देखकर मुझे रश्क़ हो रहा है। आह, तुम कितनी ख़ुश-नसीब हो! ख़ुदा करे, तुम्हारी मुराद पूरी हो! मगर मैं एक बात कहे देती हूँ, हसीना! किसीपर बिना समझे-बूझे जाँ-निसार करना ख़ौफ़ से कभी खाली नहीं। माना, कि वे हमदर्द हैं, तुम्हारी इज्ज़त करते हैं, हाँ, तुम्हें हसरत की निगाह से देखा करते हैं, मगर फिर भी जब तक कोई कड़ी जाँच न हो ले, तब तक मर-

मिटने की तमन्ना न करना, तब, तक उनके सुपुर्द अपने को मत कर देना। माना, तुम्हारे बुलंद ख्यालात हैं, तुम दुनिया को उन्हीं आँखों से देखना चाहती हो, जिन आँखों से बड़े-बड़े फ़क़ीर देखा करते हैं। यह कम .खुशी की बात नहीं। मगर डर है कि कहीं आँखें तुम्हारी धोखा न खा बैठें! कहीं वे बाहिरी रंग को देखकर उसकी भीतरी तह तक पहुँचने की कोई जरूरत ही न समझें क्या तुम्हें वह शैर याद नहीं, हसीना, जो उस्तादजी सुनाया करते थे:—

"बख़्श है जलवये-गुल ज़ौक़ तमाशा 'ग़ालिब'।
चश्म को चाहिए हर रंग में वा हो जाना॥"

क्या तुम्हें अब भी मेरी बातों पर यक़ीन नहीं हो सकता, हसीना! सच कहना। बेशक़, वे महापुरुष हैं, जो तुमपर तरस खाकर तुम्हारी देख-रेख में अपना बेशक़ीमत वक़्त ज़ाया करते हैं। तेरा अगर दिल लग गया है तो कोई बेजा मैं नहीं समझती। आख़िर, तुझे तेरी टेक के मुताबिक़ किसीको अपनाना ही था, जिसके लिये मैं तेरी ख़ास तौर से तारीफ़ करती हूँ। फिर भी मैं यह जरूर कहूँगी कि इंसान होना उनका ज़रूरी है। सभी आदमी आदमी नहीं हो सकते—इंसान नहीं हो सकते।

"बस कि दुश्वार है हर का आसाँ होना।
आदमी को मयस्सर नहीं इंसाँ होना॥"

जो हो, फिर भी दुनिया में इंसान की कमी नहीं है। अगर कमी है तो उसके अच्छी तरह पहिचानने की। पहिले तुमसे जितना बने, हर पहलू से उन्हें आज़माओ। खरे सोने की तरह आज़माओ। आजमाने के लिये उन्हें दहकते अंगारे पर तपाना होगा—बार-बार तपाना होगा। अगर, अगर कामयाबी हासिल हो गई, तो समझ लो—वे तुम्हारे हैं और तुम उनकी। मेरी खरी-खोटी बातों पर रंज न करना, मेरी बहन! तुम्हारी मुहब्बत मुझे ऐसा लिखने को मजबूर कर रही है। जब तुम अपना अहवाले-दिल मेरे सामने पेश कर रही हो, तो मुझे लाज़िम है, उसकी ताज़ीम करना।

हाँ, एक बात और—मुहब्बत की आग में परवाना-सा न कूद पड़ना। पहले मुहब्बत ही किसे कहते हैं—सोच-समझ लो। कोई काम हठ से कर बैठना अक्लमंदी नहीं, न तुमसे ऐसा होने का मैं यक़ीन ही रखती हूँ। फिर भी कुछ बातें यहाँ कह देना ही मैं जरूरी और अपना फर्ज़ समझती हूँ।

"इश्क़ पर ज़ोर नहीं है यह वह आतिश 'ग़ालिब',
कि लगाए न लगे और बुझाए न बने।"

मुहब्बत की आग! उफ़! मुहब्बत की आग वह आग है, जो न तो लगाए लगती है और न बुझाए ही बनती है। यह हर वक़्त और हर हालत में ताज़ा रहती है। जहाँ यह बात देखो,

और दोनों तरफ़ से देखो, वहीं समझो कि इन दो दिलों में सच्ची मुहब्बत की आग जल रही है—वहीं मुहब्बत का तूफ़ानी बह्र लहरें मारता दीख पड़ता है।

मुहब्बत की जगह दिल है, न कि बाहरी दिखावट। किसीके गुल-से बदन को देखकर झटपट उसपर जाँ निसार न कर देना चाहिए, जब तक उसके दिल की आख़िरी तह तक न पहुँच सकें। मुहब्बत के लिये जिस्म नहीं, जिगर ही जगह है। मुहब्बत में मिलने की तमन्ना रहती है, बेचैनी नहीं। मुहब्बत किसी काम में रुकावट नहीं डालती, बल्कि, सभी कामों में दिल लगाती है—सभी तरफ से दिल को समेटकर अपने ख़ास रास्ते पर ला देती है। जब अपने दिल में ऐसी लगन देखो, तब यह ज़रूर समझ लो कि यह मुहब्बत—यह उल्फ़त—बर-क़रार रह सकती है। इसमें कभी किसी तरह का शुबहा नहीं हो सकता—किसी तरह का धोखा नहीं हो सकता।

हसीना, मेरी लंबी-चौड़ी बातों के पचड़े में पड़कर तुम घबड़ा मत जाना। मैंने जो रास्ते बतलाए हैं, सही हैं—दुरुस्त हैं। अगर कहीं इस रास्ते से ज़रा भी मुड़ीं कि आख़िर पछताने के सिवा कुछ हाथ न आएगा—न आएगा, हसीना!

हाँ, सबसे मुश्किल और ना-कामयाब होने का भारी ख़तरा तो जुदा ही है। मैं डरती हूँ। कहीं इससे तुम्हारे दिल में

सख्त चोट न पहुँचे। पहुँचेगी तो जरूर, मगर जब मैं देखती हूँ कि उसके कहे बग़ैर काम न चलेगा तब तो उसे कभी-न-कभी कहना ही पड़ेगा। इसीलिये, तो मैं अभी कह देना फ़र्ज़ समझती हूँ! अच्छा, सुनो और ज़रा इसपर खूब ग़ौर भी करो।

तुम जिस रास्ते पर जा रही हो, वह बहुत ही नायाब है, नया और ताज़ा है। जिस ज़ात में यह बात कभी न हुई—वही तुम करने जा रही हो। ज़रा सोच-समझ से काम लो, बहन, क्या तुमने कभी अम्मा से इस बारे में कोई बात चलाई है? क्या वे तुम्हें ऐसा करने की दिल-खोलकर सलाह देंगी? ज़रा सोचो और फिर विचार करो।

हाँ, समझ लो, अगर तुम अपनी बात पर अड़ हो जाओगी, तो तुम्हें इसके लिये कम परेशानी और कम मुसीबत न उठानी पड़ेंगी। क्यां तुम इसके लिये तैयार हो? तैयार हो, हसीना! अगर, हाँ, तो मैं तुम्हारे दिल को लाख-लाख सराहती हूँ—तारीफ़ करती हूँ। तुम्हारा बोसा लेने को मैं सबसे आगे खड़ी होती हूँ। मगर, डर है, कहीं इससे ज़रा भी मुड़ीं, ज़रा कहीं भी तुम्हारा नन्हा-सा दिल दूसरी तरफ घूम गया, फिर गया, तो फिर उस हिंदू बेचारे को तुम कहीं का न छोड़ोगी। उस दिन उनकी हालत क्या होगी? किसीके ख़ून की प्यासी न बनो। मुहब्बत की लहलहाती आग अगर तुम्हारे दिल में

धधकती हो, तो उसे हमेशा के लिये धधकती ही रखो, और जिन्हें अपनाना चाहती हो, उन्हें आख़िरी दम-तक निबाहना। तभी तुम्हारी मुराद पूरी हो सकती है। तभी तुम्हारा कलंक मिट सकता है। तभी तुम हमलोगों के लिये नुमाइश हो सकती हो और तुम्हारी मिसाल आगे आनेवाली हमारी बहनों को जन्नत की राह दिखा सकती है। अपने दिल से पूछो—है वह इन सब तकलीफ़ों को उठाने के लिये तैयार? सच कहना, हसीना!

अच्छा, अब मैं यहीं अपना कलम बंद करती हूँ। इस बार उनके बारे में पूरा-पूरा लिखो—वे कौन हैं, कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं? और, हो सके तो उनका एक तुरत का खींचा फ़ोटो भी मेरे पास भेजो, ताकि मैं भी उन्हें···। हाँ, मैं रोज-रोज की कौन कहे, घड़ी-घड़ी का अहवाल जानना चाहती हूँ। देखना, ख़त डालने में देर न करना—चुप्पी न साध लेना।

ख़ुदा, तुम्हारे पाक-दामन की लाज रखे। बस, उस परवर-दिगार से तुम्हारे लिये यही एक आरज़ू है—तमन्ना है। देखें, वह दिन कब आता है, जब तुम्हारी तमन्ना पूरी देखकर मैं अपनी तक़दीर को सराहूँगी। और, अगर ख़ुदा ने मुझे ताक़त दी तो··········।

तुम्हारी अज़ीज़ा—

कुंदन

पत्र—३
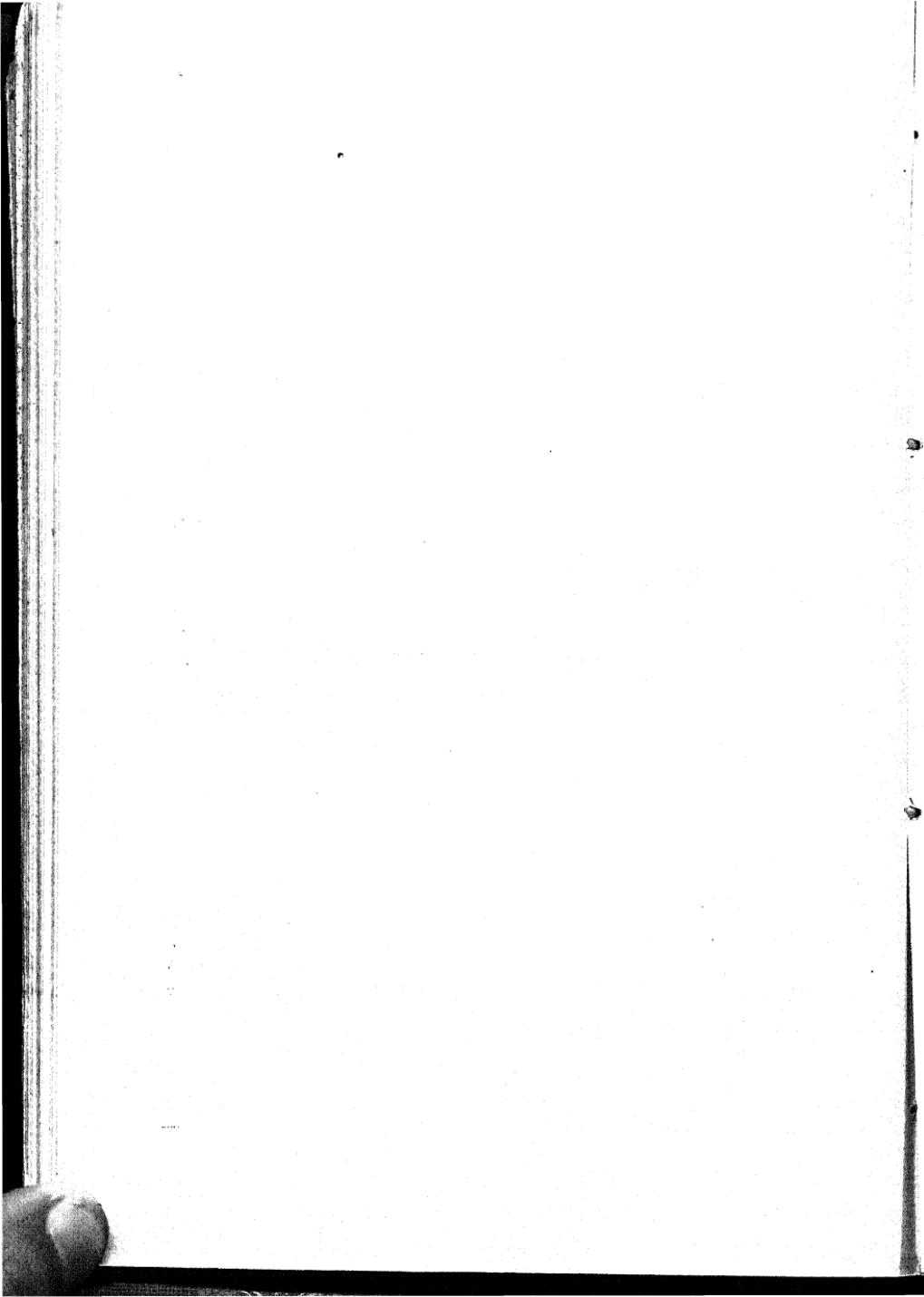
श्रीयुत प्रो० धीरेंद्र कुमार, M. A.

हिंदू-विश्व-विद्यालय,

बनारस।

मेरे देवता,

मैं उस बहाव में बही जा रही हूँ, जिसकी हद नहीं—इंतहा नहीं। न जाने यह बहाव मुझे कहाँ ले जाकर छोड़ेगा। हो सकता है, यह खिंचाव किसी दूसरी ओर हो, जिसके लिये मैं ख़ुद गुनहगार नहीं हूँ; गुनहगार तो वह है, जो ख़ुद जुर्म करता है।

"ग़लत है जज़्बे-दिल का शिकवा देखो जुर्म किसका है,
न खींचो गर तुम अपने को, कशाकश दर्मियाँ क्यों हो।"

क्या जुर्म करनेवाले कभी सोचते हैं कि जिसपर जुर्म किया जाता है, आख़िर उसकी हालत क्या होगी? मैं तो मर्द हूँ नहीं कि कुछ हिम्मत रख सकूँ और धीरज धर सकूँ। फिर जान-बूझकर, किस ख़ता पर यह भारी जुर्म मुझ बेकस पर किया जा रहा है! यह भगवान ही जानें या जुर्म करनेवाले ही।

मेरे परमेश्वर, उस दिन, जब आप आए, आपके दर्शन हुए। मैं अपने आपे में न थी। न जाने निगोड़ी हया कहाँ से आकर मेरे सिर पड़ गई! आप आते हैं, तो जबाँ ही बंद हो जाती है और आँखें नीचे की ओर झुक जाती हैं। कारण क्या हो सकता है, उसे तो आप ही समझें। मगर मैं तो यही कहूँगी—

"दिल को नियाज़ हसरते-दीदार कर चुके,
देखा तो हममें ताक़ते-दीदार भी नहीं।"

मेरे रहनुमा, मैं किस मुँह से फिर भी आपके दर्शन की ख्वाहिश करूँ ? कुसूरवार तो मेरा दिल ही है। मैंने लाख कोशिशें कीं, पर, कामयाब न हो सकी। आप दिल से कितना झुँझलाए होंगे। हो सकता है, आपके दिल की बुलंदगी इन बातों को भुला बैठे, पर मेरे पाप का प्रायश्चित्त तो होना ही चाहिए— इसमें खलल क्यों हो ? पर, प्रियवर, स्त्रियों के सुभाव के कारन जो क़ुसूर बन पड़े हैं, उनके लिये तो मुआफ़ करना ही होगा। मेरे बे-सबब जवाब न देने पर आपका खीझना कभी मुनासिब नहीं। आप बड़े हैं, और मैं छोटी। छोटे से बड़ों का क़ुसूर हो ही जाता है, तो क्या बड़े छोटे की भूल का ख्याल छोड़ उन पर मेहरबानी की नज़र नहीं डालते ?

शायद, इसीका नतीजा तो यह नहीं कि आप महीनों से दर्शन देने की मेहरबानी नहीं करते। मैं कैसे बुलाऊँ, इस टूटे-फूटे मंदिर में—नरक का-सा खेल हो रहा है। महाशय ! दिल ही जानता है—आपके लिये यह निवास-स्थान बड़ा ही तंग और छोटा है, जिसमें आपकी मंगलमयी मूरत की मैं रातो-दिन प्रार्थना करती हूँ। पर, आप तो इस नरक-से हिये को देखकर नफ़रत करते हैं—आनाकानी कर बैठते हैं। मैं इसीके लायक तो हूँ ही ! आप ही ने इस नाचीज़ की ज़िंदगी बचाई है। है न ? फिर उस दिन आपको कलंक नहीं लगा ?

लगा है न ? आप ही बतलावें। यदि हाँ, तो फिर मेरे किस कुसूर पर, किस ख़ता पर—आप मुझे भुला बैठे ?

आपका हुक्म मैं हरफ़-ब-हरफ़ मान रही हूँ। उसका सुबूत तो इस खत से ही मिल जायगा। इधर आपकी ग़ैरहाज़िरी में मैं हिंदी पढ़ने का अभ्यास कर रही हूँ। रामायण अब मैं धीरे-धीरे बाँच लेती हूँ। गो मैं अभी उसे पूरी तरह नहीं समझ पाती, फिर भी दो-चार अलफ़ाज समझकर ही मुझे कम आनंद नहीं होता। हाँ, मैंने गीता भी मँगा ली है, पर, अभी नहीं पीछे पढ़ूँगी और आपके साथ। आह, इतने ही दिनों में मेरी कैसी काया-पलट हो गई! इसके बारे में मैं और कुछ कहना नहीं चाहती। मैं आपकी विद्यार्थिनी हूँ और आप मेरे गुरु। गुरु को हक़ है, चाहे जिस तरह हो, अपने चेले का कड़ा-से-कड़ा इम्तहान ले। फिर मैं इससे अपने को कब तक बचाए रख सकती हूँ ?

कई बार ख्वाहिश हुई कि मैं ख़ुद आपके पास जाऊँ, पर, मैं ऐसा न कर सकी। मैं सहम गई। इसलिये कि कहीं मेरे जाने पर आप पर कलंक का टीका न लगे। सबब है, तअल्लुक़ का शुबहा भले ही बड़े लोगों के मन पर कोई असर न करे, पर आम लोगों को जरूर ही अपने चंगुल में फँसा सकता है। इसीलिये, मन की घूँट को मन ही में पीकर बैठ गई, कुछ करते ही न बना।

क्या इस बदनसीब के भाग्य में यही लिखा है ? क्या

यह अमिट लेख मिटाने की कूवत आप नहीं रखते ? इसके कर्ता भी तो आप ही हैं न ? फिर, अपना लिखा यदि आप ही काटकर बनाएँ, तो इसमें काटनेवाले का क्या बनता-बिगड़ता है ? मिहरबान ! एक बार आप ही इस सवाल का जवाब दें।

आपको मेरी भाषा में, कुछ ही दिनों में, रद्दोबदल दीख पड़ेगा। सच जानिए-यह है आपके शुद्ध हृदय के परस का एक चिह्न ! क्या वह स्पर्श मेरे दिल को पवित्र नहीं करता है ? मेरे देवता ! आप ही इसका उत्तर दें।

तो फिर मैं कब तक आपकी बाट जोहती रहूँ ? एक दिन नहीं—दो दिन नहीं, पूरे इक्कीस दिन मुझे इसी तरह बिताने पड़े हैं। इन इक्कीस दिनों में कितनी घड़ियाँ बीती होंगी ! इनपर ज़रा विचारने की कृपा करें, फिर मेरे दुःखों का अंदाज़ आप ही हो जायगा। क्या इतनी विनती करने पर भी सिर्फ एक घंटे के लिये दर्शन न देंगे ! क्या मेरी आशा निराधार है ?

"अश्के सब्र तलब और तमन्ना बेताब,
दिल का क्या रंग करूँ ख़ूने-जिगर होने तक ॥"

अब, मुझे कुछ भी लिखने की इच्छा नहीं। नहीं कह सकती- मेरी क्या दशा है। आह ! 'तू ही ने दर्द दिया तू ही दवा देना !'
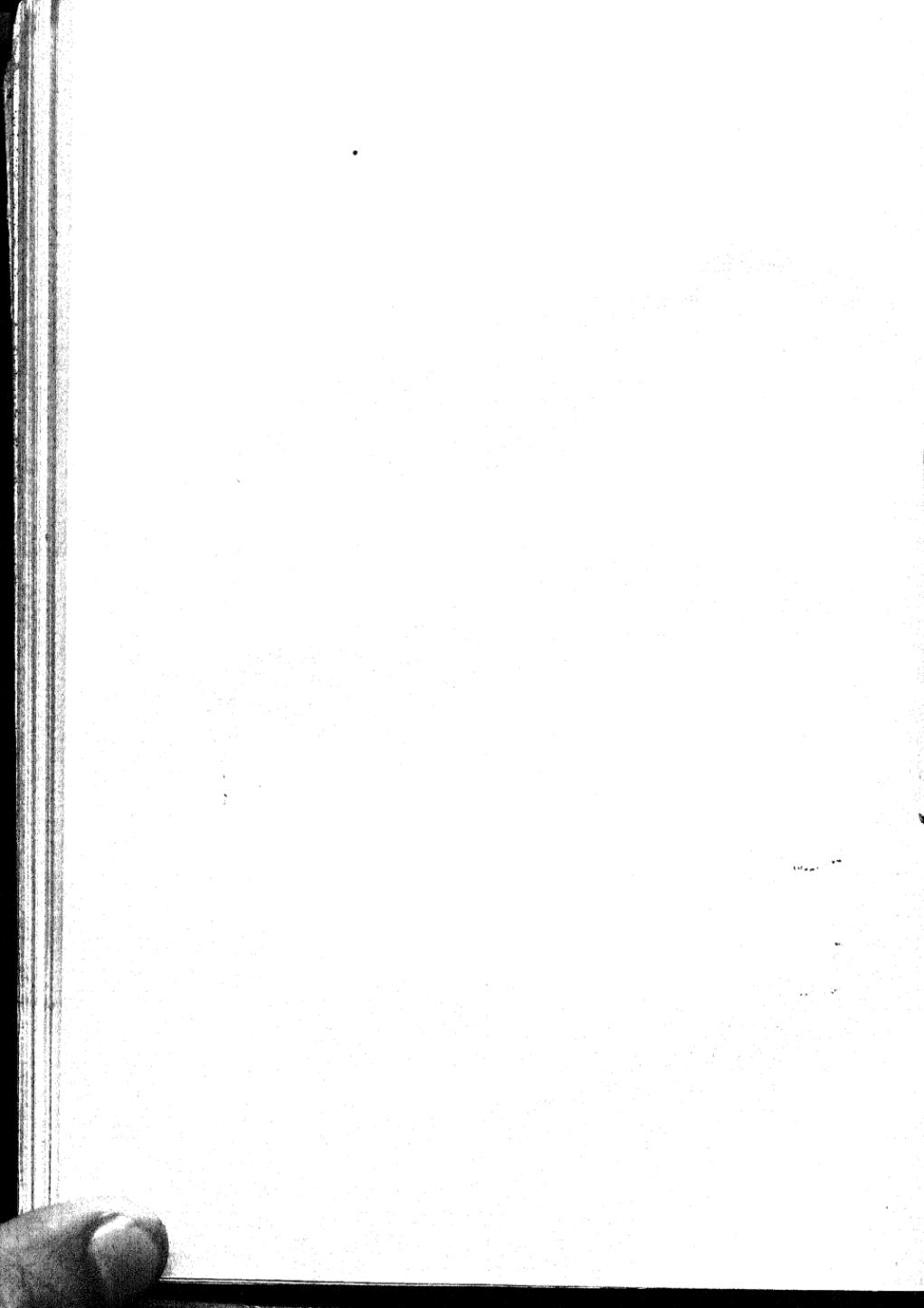
अभागिनी—
हसीना

पत्र–४

Syt. Dhirendra Kumar, M. A.

Hindu University,

Benares.

प्रिय धीरेन,

हृदय-स्पर्श ! आश्चर्य है ! कहाँ तो सप्ताह में तुम्हारा पत्र आना, और कहाँ महीने—दो महीने—पर भी पत्रोत्तर नदारद । आश्चर्य है न ! तुम्हीं कहो । क्या यह मेरे लिये घातक नहीं हो सकता ? प्रतीक्षा में—प्रत्याशा में आँखें मार्ग में बिछी हुई हैं, पर व्यर्थ। कौन जानता था कि तुम इतने कठोर—नहीं, वज्र-कठोर निकलोगे ? क्रूरता की भी सीमा होती है ! भला यह तरसाना तुमने कहाँ सीखा; धीरेन? तुम तो ऐसे न थे ! फिर भी तुम अपने पथ से क्यों खिसके जा रहे हो ? भाई, ज़रा बताओ तो ।

ओह ! उस दिन की बात भूल गए? धीरेन, जब तुम मुझसे वियोग के समय, बच्चे-से—सिसककर—रो रहे थे । क्या उस दिन की बात याद नहीं, मेरे हठीले ! जब तुम मुझे यह कहकर धीरज बँधा रहे थे कि चाहे दुनिया एक ओर हो जाय, पर, तुम्हें न भूलूँगा, भैया ? है न उस समय की बात याद ? क्या मैं तुम्हें भुलावे में तो नहीं डाल रहा हूँ ? तुम्हारी आँखें किधर मुड़ पड़ीं ? सच बताना, धीरेन ! क्या अब भी केवल एक पत्र के लिये—नहीं, केवल एक लाइन के लिये तरसाओगे ? बड़ा बिगाड़ हो जायगा ! बातें ही करना छोड़ बैठूँगा । तुम्हारी नई दुलहिन लाने की मैं कभी तक़लीफ़ गवारा न करूँगा । हाँ, जान रखना ।

अच्छा, अब मतलब की सुनो। परसों की बात है। मैं घूमते-घामते तुम्हारे घर पहुँच गया था। चाची बैठी तुम्हारे लिये 'स्टाकिंग' बुन रही थीं। चाचाजी आराम-कुर्सी पर बैठे अखबार के पन्ने उलट रहे थे। उसी समय करम का मारा मैं वहाँ जा निकला। भाई, माफ़ करना, इधर पंद्रह दिनों से मैं तुम्हारे घर न जा सका था। कारण, क्या बताऊँ? बच्चन की माँ (सहधर्मिणी) की तबियत ख़राब थी। उसीकी धुन में मैं परेशान था। बच्चन को दूध पिलाना, खिलाना, सेवा करना, सभी भार—थे मेरे ही सिर पर। मैं रात-दिन लेटा रहनेवाला आदमी, भला बच्चे को पालना क्या जानूँ। सच कहता हूँ, भाई, इतने ही दिनों में मुझे नाकों चने चबाने पड़े। इसपर गृहिणी की डपट अलग सिर पर। वह कभी झुँझलाकर बोल उठती—'मुझे तो बच्चे के रो उठने पर कह बैठते थे कि, पेट का बच्चा भार हो गया, बार-बार रुलाया करती है; अब बच्चे क्यों रोया करते हैं? बाप ही बनने की साध है या खेलाने की भी! मैं क्या कहता? देखो, भाभी की करामात!

हाँ, तो मैं क्या कहते-कहते कहाँ चला आया! कह रहा था न कि मैं तुम्हारे यहाँ जा पहुँचा। चाचीजी तो मुझे देखकर पहले खीम-सी उठीं। मैंने देखा—शायद मेरे न आने पर ही इनकी आँखें-भौंहें—सभी तन गई हैं। क्या करता? मैंने ही पूछा—'कहिए चाचीजी, कुशल है न?' साथ ही मैं हँसी को रोक

भी न सका। उन्हें खिझी-सी देखकर हँसी आ ही गई। उन्होंने कहा—'जा-जा, रामू, मैं तो जानती हूँ, जैसे धीरू हम लोगों को भूल गया है, वैसे ही तू भी। क्या करने आएगा? अब तेरी चाची मानों संसार में है ही नहीं।'

'क्यों चाचीजी'—मैंने मुसकुराते हुए कहा—'मैं तो सामने ही देख रहा हूँ, चाची मेरे लिये स्टाकिंग बुन रही हैं, मुझसे बातें कर रही हैं, मैं कैसे समझूँ कि चाची जी हैं ही नहीं!'

'हाँ-हाँ, मान लो कि चाची हैं ही नहीं। क्यों नहीं? यदि तुम जानते होते कि चाची भी इस दुनिया में हैं तो फिर मुझे देख न जाते!'—चाची ने कहा।

इसी समय चाचाजी बोल उठे—'भला, बातें ही करेगी या रामू को बैठने को भी कहेगी? जानती है, घर-बाहर सभी-कुछ सँभालने पड़ते हैं। फिर बबुआ आवे तो किस तरह!'

फिर क्या था? चाचाजी ने तो मेरे मन के लायक बात कही। मैं पास की रखी चौकी पर बैठ गया। चाची कुछ सकुचा तो अवश्य गईं, पर, वे उठकर भीतर की ओर चली गईं और बात-की-बात में दालमोट, सेवड़े, पेड़े और नारंगियाँ ले आईं। भाई, सच कहता हूँ, पंद्रह दिनों के बाद चाची के हाथ का मुझे प्रसाद मिला था, फिर मैं भी कब का छोड़नेवाला था? मैं तो लगा चकाचक एक-एक कर उड़ाने। इसी समय तुम्हारे बारे में भी कुछ

बातें चल पड़ीं। हाँ, अब तो तुम बहुत उत्सुक होगे, अपने मतलब की बात सुनने को। पर, नहीं सुनाऊँगा, जब तक मुझे मिठाई खिलाने का वादा न करोगे? ख़ैर...।

शर्त तो बद दी मिठाई खिलाने की, पर कहने को जी भी नहीं मानता। तो भी उम्मीद है,न खिलाओगे तो कम-से-कम पत्र देकर सुखी ही करोगे। समझूँगा,मन-मोदक से ही पेट भर गया।

हाँ! तो चाचाजी कहने लगे—'दो दिन होता है कि शिवपुर से नाई और ब्राह्मण आया था जन्म-पत्र माँगने। मैंने उन्हें जन्म-पत्र निकालकर दिया। उन्होंने देखा और कहा—'बिध तो पूरी-पूरी बैठती है। यह जोड़ी अद्वितीय होगी। साक्षात् विधाता ने ही मानों अपने हाथ से यह गणना बैठाई है।' तिलक की बात चलने पर मैंने पूरे पचीस हजार माँगे हैं। पहले तो वे मोल-तोल करने लगे, पर मैंने साफ़ कह दिया—'यदि इतने पर राज़ी हों तो ठीक करें, नहीं तो दूसरा घर देखें!' वे जाति में मुझसे इक्कीस हैं और सबसे विशेष तो यह कि लड़की मानों दूज का चाँद हो। तिसपर ख़ूब पढ़ी-लिखी। मैंने अपनी राय तो अभी सोलह आने नहीं दी है; क्योंकि तुम लोग अब बच्चे नहीं रहे, सलाह लेना जरूरी ठहरा। इसलिये, मैंने एक तरह से निश्चित कर लिया है। बबुआ धीरू तो यहाँ है नहीं। ख़ैर, वह नहीं है तो तू तो है ही। तू भी एक नज़र,

किसी बहाने से, वहाँ जाकर लड़की पसंद कर आ। ताकि पीछे ऐसा न हो कि लड़की अच्छी नहीं है। क्योंकि, बाबा! आजकल तो अँगरेज़ी पढ़े-लिखे की दुनिया है। वे लोग किरस्तानी चाल को ही पसंद करते हैं, और मैं भी उतना तो नहीं, किसी अंश में, उसे अच्छा समझता हूँ। जब तुम्हें पसंद आ जाय तो फिर धीरू को भला कब पसंद न आएगी।"

इसी बीच चाचीजी भी बोल उठीं—'हाँ-हाँ, बेटा, इसमें विलंब नहीं करना चाहिए। शादी की बात तो आज दस बरस से होती आ रही है। पर, उसे तो जिद है कि अभी करेंगे ही नहीं। अब मुझसे यह देखा नहीं जाता। भला, धन कमाते लोग किसलिये हैं। इसीलिये न, कि आराम से अपने बाल-बच्चों के साथ रहें। तीन पन बीत गए और चौथा बीत रहा है। कौन जाने कब क्या हो। हम लोगों के न रहने पर बेटे की क्या हालत होगी? लोग क्या कहेंगे?

अंत में दोनों के निश्चय करने पर मैं उसी दिन दो-बजे की ट्रेन से शिवपुर चल पड़ा। मैं अपनी दीदी के घर उतरा था, तुम्हारी 'उड-बी' (would-be) पत्नी का घर बगल में ही पड़ता है। मैं बड़ा खुश-नसीब था, धीरेन, तुम्हारी भावी पत्नी खुद-ब-खुद दीदी के घर उनसे अठखेलियाँ कर रही थी, उन्हें क्या पता था कि मैं उन्हें ही देखने को भेजा गया हूँ। उनके पूछने

पर दीदी ने उन्हें कुछ-का-कुछ बता दिया। मैंने आँखें पसारकर उनके रूप-लावण्य को देखा। देखा—रूप-सुधा का पान किया अंत में तुम्हारे सौभाग्य पर मुझे ईर्षा हो आई। सच कहता हूँ, धीरेन, उसके शरीर से रूप फूटा पड़ता था! आँखें कैसी लंबी-लंबी, कितनी उज्वल और कैसी चंचल! कैसा मनोहर बोलना-चालना, इठलाना-मचलना! 'गजब ढा गई वह हँसते-हँसते!'

बस, देर न करो, धीरेन, जितना शीघ्र हो, अपनी संमति लिख भेजो! यदि स्वयं देखने की इच्छा हो तो लिखो, मैं स्वयं इसका आयोजन कर दूँगा। तुम तो एक बार मुग्ध हो जाओगे, उनकी मस्ती पर! कैसी उन्माद-भरी चितवन है उनकी!

इस पत्र के साथ तुम्हारे घर का भी पत्र जाता है। तुम्हारा पत्र न आने से चाची-चाचा दोनों दुखी हैं। मुझे नहीं, तो कम-से-कम अपने बूढ़े मा-बाप पर भी तो रहम करो, भाई!
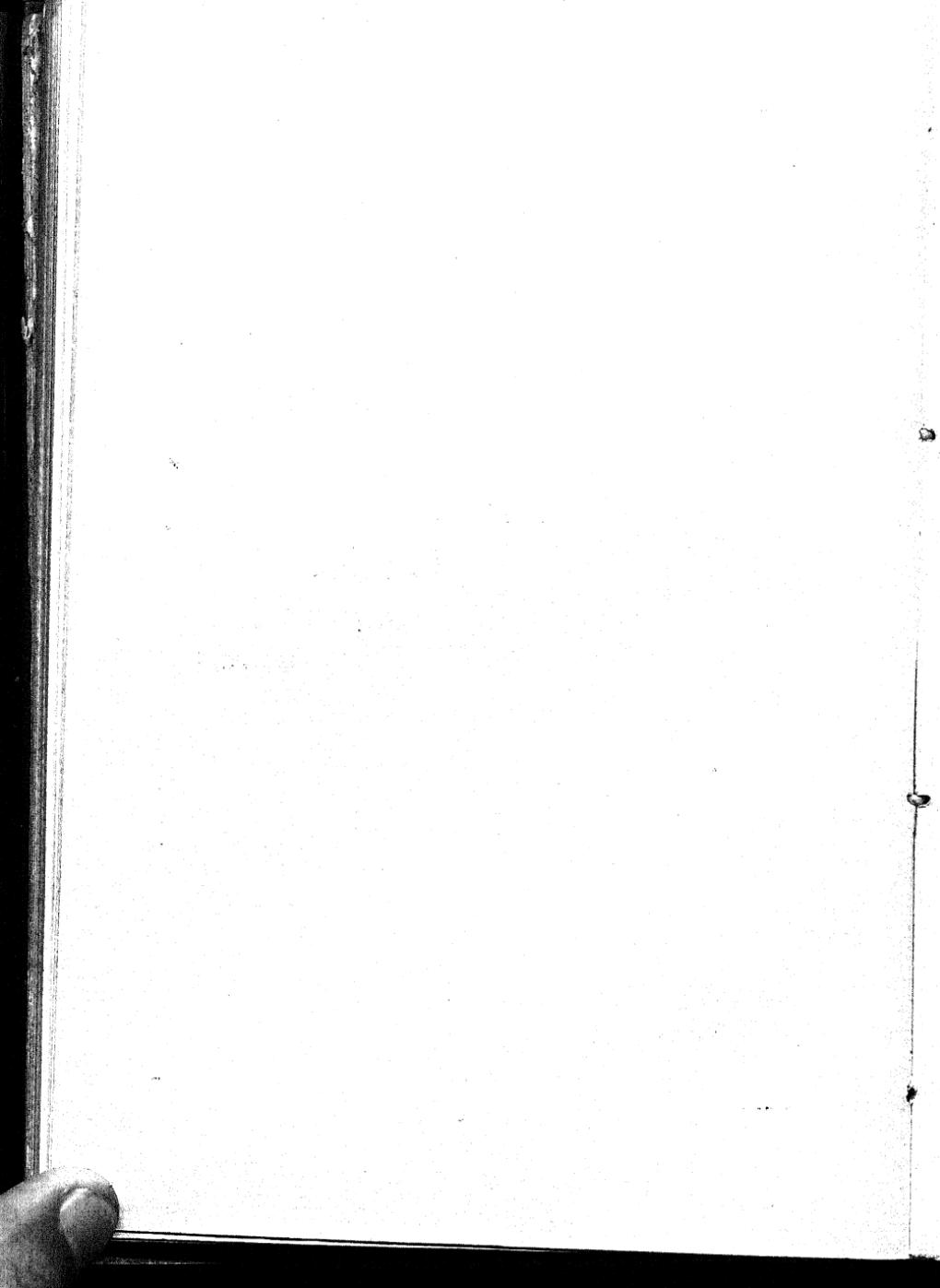
हाँ, याद रखना। अब शीघ्र पत्र न लिखा तो मैं मुश्के बाँधकर उठा लाऊँगा—वहीं आकर। कितनी ही कोशिशें करोगे, एक न चलने दूगा। हाँ ऐसा ही करूँगा, समझ रखना।

खुश हो न! तुम्हारी भाभी तुमसे मिलने को उत्कंठित है। वारंवार याद करती है। शायद, तुम्हारी जवानी देखकर!

शुभाकांक्षी—

रामकृष्ण वर्मा

पत्र—५

मिस कुंदन

१५१, सोनागाछी,

कलकत्ता ।

मेरी बहन,

आख़िर वे नहीं आए ! आह, वे कैसे हैं सितमगर ! उफ़, खुदा न करे—किसीको दिल दे ! मैं अब बे-अख्तियार हो चुकी। न दिन को चैन पाती हूँ और न रात को राहत ! आँखें बिछी हुई हैं, पलकों पर खुमारी का नशा है। दुनिया दर-किनार हुई। अपने बेगाने निकले। मगर—मगर मेरी कुंदन, वे नहीं आए, न जाने क्या समझकर वे नहीं आते ? क्यों उनका दिल, आने के लिये रुजू नहीं होता। आह, आख़िर मैं बदनसीब, दोज़ख की आग ही ठहरी ! फिर वे जान-बूझ-कर क्यों आग में कूदने लगे ! क्यों दुनिया की निगाहों में अपने को डालने लगे !

न आए न सही, मगर, मैं हूँ खुश-किस्मत ! इसमें शक नहीं—शुबहा नहीं। मैं उनके नाम की तसबीह जपती हूँ—जपा करूँगी और जब तक जिऊँगी—जपा करूँगी। तू कहेगी—कैसी पगली हूँ मैं ! हाँ-हाँ, कुंदन, इसमें शक नहीं—मैं पगली हूँ, हाँ-हाँ बज्र-पगली ! पगली न होती, तो मैं अपने जिगर के घाव को मरहम-पट्टी से ज़रूर रफ़ा करती। मगर,

नहीं; यह घाव-यही दर्दे-जिगर—मेरा सहारा है।...ओह! अगर मैं इसे भी खो दूँ, तो फिर ठिकाना ही कहाँ है—कहाँ है मेरा टिकाव ! दुनिया सूनी दीख पड़ती है—हाँ-हाँ, बिलकुल सूनी, मेरी कुंदन !

तू ने लिखा है—उन्हें खरे सोने के मानिंद जाँचो; और, खूब पहिले जाँचो। तू ग़लती पर है, भई! हिंदू की स्त्री क्या कभी 'अपने' को जाँचकर दिल देती है? क्या हिंदू की सती नारी कभी एक को छोड़कर दूजे पर हाथ पसारती है? उनके नसीब से अच्छा-बुरा—जैसा एक बार मिल गया, वही उनके लिये देवता है—नहीं, स्वर्ग के देवताओं से बढ़कर है। है न ? तू ही कह कुंदन ! फिर मैं, किस गुमान पर—किस अरमान पर—उन्हें जाँचूँ! होगी न मेरी यह नादानी ! कहीं चकोरी चाँद की जाँच करती है? कहीं पपीहा जाँचकर 'अपने प्राणेश्वर' के लिये पी-पी की रटन लगाता है? कहीं आत्मा परमात्मा को पाने के लिये जाँच करती है? है न ठीक ! फिर, मैं अभागिन—ना-चीज़, बौनी होकर चाँद के छूने के लिये किस बिरते पर उछल-कूद मचाऊँ ! यह तेरा भरम है, कुंदन, तू ग़लती पर है मेरी जान !

हाँ, वे जाँच सकते हैं—हज़ार बार जाँच सकते हैं, लाख बार जाँच सकते हैं। क्योंकि, वे इसके अधिकारी हैं—

मालिक हैं, क्योंकि वे देवता हैं—देवताओं में एक हैं। क्योंकि मैं रूप के बाजार में खरा सोना दिखाकर ठिकरा बेचनेवाली मक्कार हूँ। क्योंकि, नारी-हृदय 'तिरिया-चरित' के नाम से बदनाम है। क्योंकि, मैं कीचड़ की जन्मी, पाली-पोसी और उसीको सड़ी बू से बढ़ी व बड़ी हुई हूँ। और, क्योंकि, मैं दोज़ख की आग और जहन्नुम की बला हूँ—क़हर हूँ। हूँ न? तुम्हीं कहो, और दिल खोलकर कहो—मेरी हमदर्द।

हाँ, तो मैं कहने चली थी क्या? और, उलझ पड़ी कहाँ। मुआफ़ करना। क्योंकि मैं पगली हूँ न! पगली पर कौन रहम नहीं करता! वे कैसे सुंदर हैं; कैसे भोले-भाले! गुमान का नाम नहीं; ऊँचे ओहदे पर—जिसपर जाने के लिये कितने तरसते हैं, रश्क करते हैं—बैठकर अपने को कितना हक़ीर समझते हैं—कितना छोटा मानते हैं। फिर तो वे ही ठहरे! इसीलिये न! मैं उनके नाम पर फ़िदा हो रही हूँ—मर-मिटने की तमन्ना रखती हूँ।

कल की बात है, हाँ कल की ही। 'टाउन-हाल' में लेक्चर होनेवाला था! नोटिसें पहिले ही चारों तरफ़ बट चुकी थीं! बड़े-बड़े हर्फ़ों में पोस्टर जगह-जगह सटे थे। मेरे मकान की सामनेवाली दीवाल पर भी चिपकानेवालों ने पोस्टर चिपका

दिया था। मेरी नज़र भी अचानक एक बार उधर की तरफ़ जा पड़ी। मोटे हर्फ़ों में लिखा देखा—'प्रो० धीरेंद्रकुमार वर्मा, एम. ए०'। फिर क्या था ? हिंदी पढ़ने की नई आदत ! एक ही नज़र में पढ़ डाला समूचा पोस्टर। मगर, उफ़ ! समय बीत चला था, वही समय था उनके लेक्चर का। फिर मैं देर क्यों करने लगी ! चल पड़ी मैं उसी समय, उसी कपड़े से—उसी पोशाक में और वही दिल लेकर। साइत अच्छी थी। 'टाउन-हाल' में औरतों के लिये ख़ास इंतजाम था। मैं निधड़क वहाँ जा पहुँची। कुर्सियाँ पड़ी थीं, मैं उन्हीं में से एक पर धीरे-धीरे बैठ गई। गो लोगों का ध्यान उधर ही था, मगर फिर भी मैं कई आँखों का खिलौना बन ही गई। कैसे बे-हया होते हैं मर्दों के दिल ! उफ़ !!!

हाँ, उनके लेक्चर का सब्जेक्ट था—'विचार का फल'—मनसूबों का नतीजा। कैसा नायाब सब्जेक्ट ! कितना सीधा-सादा ! कैसी उनकी मीठी ज़बान थी ! कहने का ढंग कितना अनोखा था। जैसी उनकी शीरीं जबाँ वैसा ही उनका सब्जेक्ट, मानों मक्खन में मिश्री मिली हो। फ़िदा थे सभी सुनने-वाले ! सुई गिरने की आवाज़-तक मालूम पड़े—ऐसा सन्नाटा छा गया था, ऐसा असर था उनके कहने में। अफ़सोस ! मैं वहाँ पहिले से न थी ! मगर, मैंने फिर भी जितना कुछ सुना—

उतने से ही उनके दिल का पता लग गया। कह रहे थे—'मनुष्य अपने विचारों का ही फल अपने जीवन में पाता है। जो जैसा विचार करता है, वैसा ही उसे फल भी मिलता है। चोर—जिसकी नज़रों में पराये के धन पर हाथ साफ़ करना ही सब कुछ है—वही फल पाता है। कवि अपने विचारों का फल सर्व-साधारण के बीच बिखेरता है। धन के रसिक अपने विचारों के फल-स्वरूप धन-संग्रह करना ही सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। मतलब यह है कि जिनका विचार जितना ही महत् होगा, वे उतना ही मधुर फल पावेंगे। पर विचारों का फल प्राप्त करने में उतने ही अध्यवसाय—उतनी ही लगन—की आवश्यकता है, जैसे फल को वे प्राप्त करना चाहते हैं।' आह, क्या कहूँ, कुंदन! काश तू होती तो सारा धन—सारे अरमान—तू उनपर कुरबान करती—न्यौछावर करती। उनकी ज़बान में कैसा जादू था! कैसा मद था! आह, कितना नशा! सच कहती हूँ—सुननेवाले मंत्र-मुग्ध थे, कुछ समय तक अपनी सुध-बुध गँवा बैठे थे। फिर वहाँ मेरी हस्ती ही क्या थी!

आख़िर लेक्चर ख़त्म हुआ। बड़ों ने बड़ी इज़्ज़तें बख्शीं और मैं? मेरी कुछ न पूछो, कुंदन! मेरी तो बस, एक ही तमन्ना थी—एक ही चाह थी—अगर वे मेरे होते और मैं......
...। है न मुझ-सी पगली का यह पागल अरमान?

"क़हर हो, या बला हो जो कुछ हो,
काश कि 'तुम' मेरे लिये होते।"

हाँ, एक बात कहना तो मैं भूल ही रही थी। कैसी मैं भुलक्कड़ हो गई! सच कहती हूँ, भई, मैं अपने आपको ही जब भुला बैठी हूँ, तब फिर कोई बात याद आवे तो कैसे! यह मेरी भूल नहीं—है मेरे हाथ से निकल गए हुए दिल की भूल। हाँ, तो मैं कहना चाहती थी कि उन्होंने एक बार हमारी तरफ़ भी देखा—देखा और आँखें गड़ाकर देखा। बहन! उनकी आँखें नाच रही थीं, उनका दिल नाच रहा था। पलकों पर मदिरा थी, झूमता हुआ नशा था! उन्होंने मेरी तरफ़ देखा, और मैंने उनकी तरफ़! फिर आँखें मेरी वहाँ ठहर न सकीं। देखा —उनकी आँखें बता रही थीं—'सुनो हसीना, मैं तुम्हारे दिल की ही बातें कह रहा हूँ।' मैंने भी समझा—'वे अभी तक मेरे हैं, जैसे पहिले थे।'

ओह चलने के समय बड़ा मज़ा आया। सभी एक-एक कर चल पड़े। म भी धीरे-धीरे चल पड़ी। मगर, मेरा पैर एक क़दम भी, न जाने क्यों, आगे नहीं बढ़ता था। मैं घूम-घूमकर, आँखें बचा, पीछे की तरफ देखती। देखती इसलिये कि उनकी 'जोड़ी' कब निकलती है। आख़िर, तक़दीर अच्छी थी, मौका था। उनकी शानदार जोड़ी निकल ही पड़ी। मैं मानों 'किसी

को' ढूँढ़ रही होऊँ—इसी ढंग से रास्ते में, बीच सड़क पर इधर-उधर उचक्की-सी देख रही थी। गाड़ी मेरे पास से होकर निकली। मैंने आख़िरी वक़्त उनकी तरफ़ देख ही लिया। उस समय आँसू न जाने क्यों मेरे गालों पर बिखर पड़े थे। उन्होंने मेरी डबडबाई आँखें देखीं, मैंने उनके हँसते थिरकते-अधर को देखा। आह, मैं उस सुनहले समय को कभी भुलाए भूल सकती हूँ ? मेरी परी, जादू था ! तीरे-नज़र था ! घायल हो चुकी थी। गाड़ी निकल गई, मैं वहीं जूते का फ़ीता बाँधने के बहाने ज़मीन पर बैठ गई । पर, कब तक ? पता नहीं ! आसमान में तारे छिटक गए थे। सड़क बिजली की रोशनी से चमचमा रही थी । मैं अकेली—दिल खोलकर—वहीं अपने को गँवाकर—भूली-सी—भटकी-सी जाने लगी। अबी भी मैं उसीपर विचार करती हूँ; उन्हीं पर मरती हूँ।

मुझमें अब कुछ लिखने की ताक़त नहीं रही। दिल बे-ज़ार है। आँखों से आँसू बह रहे हैं। मैं क़लम थाम कर बैठी हूँ। कलेजे में धड़कन है—कसक है—चोट है—घाव है।

अम्मा चार दिन हुए, लखनऊ गई हैं। ज़फ़र बीमार है। कब तक वे वहाँ रहेंगी, पता नहीं। कोई ख़त अभी तक नहीं आया।

मैंने उन्हें ख़त पर ख़त लिखे; पर वे मेरे दर्दे-जिगर को

क्यों जानने लगे ! जो हो, मैं तो उनके लिये दुनिया ही भूल बैठी हूँ। रोज़ाना मैं कई बार ख़त लिखती, फिर फाड़-फाड़कर टुकड़े-टुकड़ेकर सड़क पर फेंक देती ! सोचती—यह मज़मून ठीक नहीं। पगली हूँ न ? शायद उन्हें इसका पता न हो।

"ख़त लिखेंगे गर्चे मतलब कुछ न हो'
हम तो आशिक हैं.....................।"
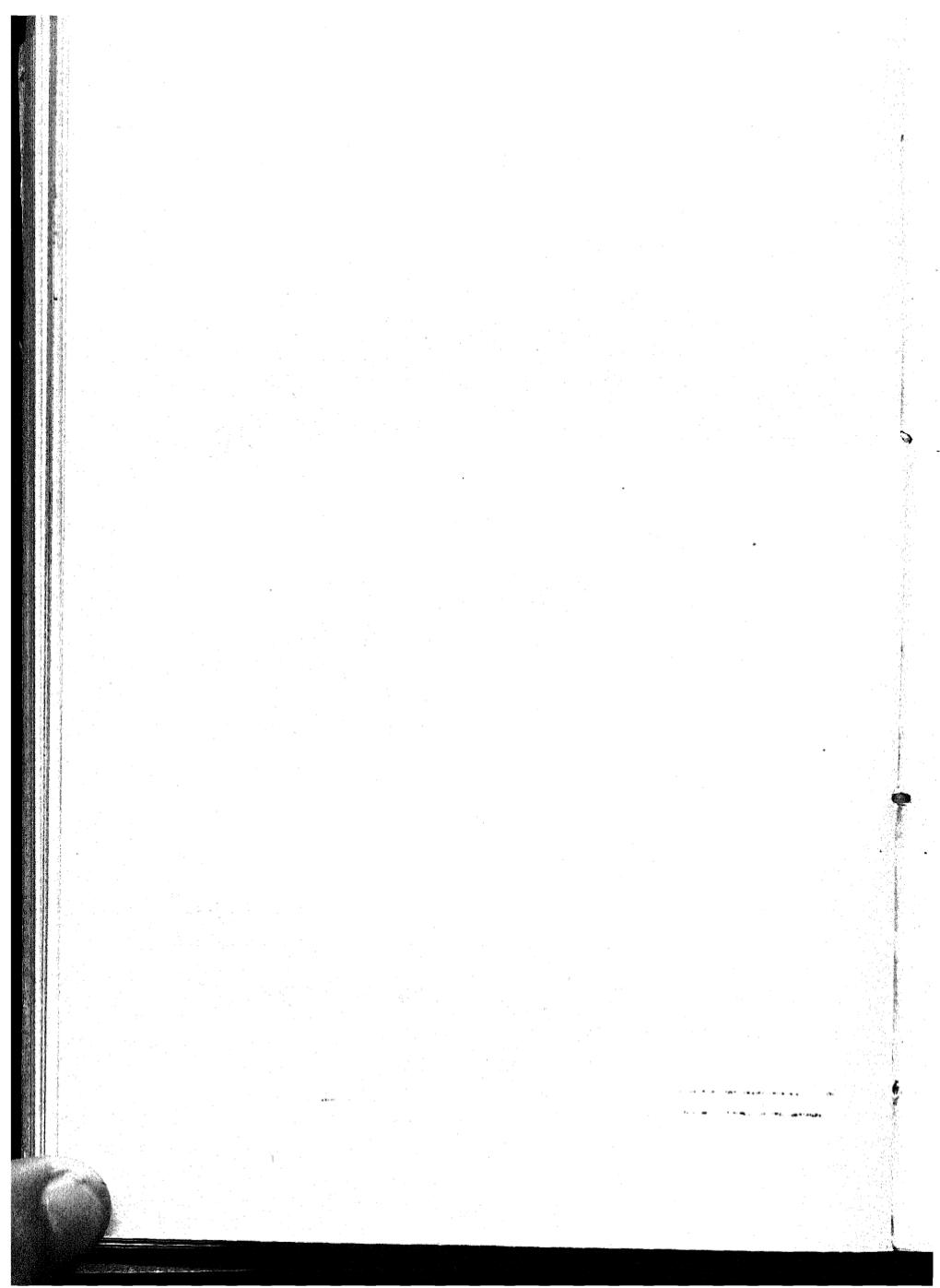
अभी इतना ही। अगर खुदा की मर्ज़ी हुई, वे कभी इधर भूल पड़े, तो फिर कभी......।

तेरी वही—
हसीना

पत्र–६

श्रीयुत रामकृष्ण वर्मा

हजरतगंज,

लखनऊ।

भैया मेरे !

स्नेह-स्पर्श ! तुम्हारे लगातार पत्र-पर-पत्र आए, पर मैं अधम एक का भी उत्तर समय पर न दे सका । हालत ही ऐसी है । मैं बहाना करने पर भी नहीं निकल सकता । फिर बहाना कर ही कैसे सकता हूँ । तुम्हें ठग भी तो नहीं सकता ? भैया ! फिर मैं क्षमा का अधिकारी ही कैसा ? जब कि मैंने जान-बूझकर ग़लती की है, तुम्हें तरसाने में ही मज़ा पाया है आज भी पत्र मैं लिख सकता कि नहीं, मैं नहीं कह सकता, पर, न जाने कौन-सी प्रेरणा मेरे अंतःकरण में उठी; कौन-सी सजीव जाग्रति उत्पन्न हुई—इस मस्तिष्क में, जिसने मुझे बाध्य किया । हाँ, भैया । मैं उसीसे विवश हो आज कुछ लिखने पर मजबूर हुआ हूँ, नहीं तो कौन जानता था कि आज, अभी भी—मैं आपको पत्र दे सकता ।

प्रश्न खड़ा हो सकता है कि भला इस परिवर्तन का कारण भी है ? ठीक है बिना कारण के कार्य हो ही नहीं सकते । इस परिवर्तन का भी कारण है । नहीं तो भला मुझसे यह नादानी—यह मूर्खता—कभी संभव थी, जिसके लिये

मुझ आप ही पश्चात्ताप है; जिसके लिये मैं मूक-रुदन करता हूँ, एकांत में, निशीथ में, सोते-बैठते 'आह' हृदय से निकलती है, आँखों से सावन-भादों-सी झड़ी लग जाती है। मैं उसके प्रवाह में बे-तरह बहता हूँ और कब तक बहूँगा, कौन जाने! परमेश्वर न करे किसीको यह दिन दिखलाए। पर अब? जब मैं इस तूफानी महासमुद्र में जल-मग्न हो ही गया हूँ तो फिर बचने का उपाय ही भला क्या? इससे निकलने की समुचित चेष्टा ही क्या?

अच्छा, तो तुम्हारे प्रश्नों का पहले उत्तर देना मैं अपना फ़र्ज समझता हूँ।

तुमने लिखा है, भैया, 'मेरी शादी······'मुझे तो बड़ी हँसी आई, इस लाइन को पढ़कर! हँसी का कारण—आपका हृदय ही है। क्या उस दिन को भूल गए। भैया! जब तुमने कहा था—'विवाह—बंधन है, यंत्रणा है, अभिशाप है, स्वतंत्रता पर कुठाराघात है और निजत्व खोकर सांसारिकता के फेर में पड़ना है।' है न बात ठीक। कहा था न? क्या तुम्हें स्मरण नहीं भैया? फिर आज कौन-सी प्रेरणा तुम्हारे हृदय में उठी जिसने ऐसा लिखने को वाध्य किया? इस निरीह को, इस अजीवन निर्वासित के ऊपर यह दया, यह ममत्व, बोझ नहीं है भैया! तुम्हीं कहो। इसी विचार ने मुझे माता-पिता की

सेवा से बहिर्मुख किया है ? किया है न ? फिर जान-बूझकर आग में कूदने की संमति तुम्हारी कैसी ! किस महामंत्र का प्रभाव है, भैया ! जिसने ऐसा करने को तुम्हें दबाया ?

संसार की ओर एक बार विचार-दृष्टि से देखो, भाई ! कितने आकुल-प्राण संसार की यंत्रणा सहते-सहते मर मिटे, कितने प्राणी समाज की बलि-वेदी पर उत्सर्ग हो गए। कितने समाज के वज्र-प्रहार से अपना होश गँवा बैठे। आज आँसुओं की वर्षा होती है। शरीर में प्राण हैं—पर स्पंदन नहीं। इन सूखी हड्डियों को निचोड़ने से एक बूँद रस भी नहीं निकल सकता। धमनियों का रक्त सूखकर पानी हो गया। आँखें विभी-षिका दर्शन से नीचे की ओर धँस गई। उन्हें न तो कोई पूछने ही वाला है और न उनके साथ मिलकर आँसू बहाने-वाला ही। समाज में देखो—नारि-जाति का—मातृ-जाति का—क्या स्थान है ? क्या कर रहे हैं उनके लिये हम लोग ? हमारी सहानुभूति उनकी ओर कितनी है,—कहाँ तक है ! उनके दुःखों में हमलोग किस अट्टहास का चिह्न देखते हैं। अपने हृदय-मंदिर की वह मणि-माला आज उच्चासन से बहिर्गत करके हमलोगों ने क्यों धुँधली कर दी ! कितनी बिलखती हैं, रोती हैं—मूक-रुदन से संसार को कँपाती हैं। आज उनके दर्द से धरित्री—यह वसुमती क्यों अपनी जगह से च्युत हो

रही है, क्यों वे इसके लिये भार बन रही हैं। ज़रा इन प्रश्नों पर विचार तो करो, भाई मेरे। मैं तो आपका हूँ, और रहूँगा—आपका ही होकर हूँ और आगे रहूँगा भी, फिर अकारण यह फाँसी क्यों ?

तुमने लिखा है कि 'पच्चीस हजार तिलक········।' अहा पचीस हजार ! पच्चीस हजार कितने हृदयों के तप्त रक्त होंगे ? कितनी तड़फड़ाती आत्माओं के प्राण के वे ठीकरे हैं ? आह ! हृदय सहम गया, आँखों की अविरल अश्रुधारा अवाध्य गति से बह रही है। उच्छ्वास के साथ मेरी आहें कलेजा खरोच रही हैं । यह नर-विक्रय ! यह नराधम नारकीय व्यवसाय ! बीसवीं शताब्दी का यह हृदय हिलानेवाला नज़ारा ! मातमपुर्शी का जनाजा मत निकालो भैया ! इस चंचला लक्ष्मी की वलि-वेदी पर एक नहीं, दो नहीं—हजारों—लाखों की हत्या न करो। भाई, यदि दिल हो और दिल में ताक़त, तो मुझे अपने मधुर हाथों से—अपने मधुर स्पर्श से—ही फ़ाँसी पर चढ़ा दो—सूली दे दो। एक लफ्ज़ न बोलूँगा। आह तक न करूँगा और हँसते-हँसते अपने को, अपनी प्यारी आत्मा को, चढ़ा दूँगा। मेरे देव ! पर यह अमानुषिक कर्तव्य—यह मनुष्य-विक्रय मैं नहीं देख सकता। माता-पिता दुःखी हों, बागी हों, चाहे संसार एक ओर हो जाय । मैं उनकी मुसकु-

राहट के लिये, उनके अरमान के लिये, उनके मान-गौरव-संभ्रम के लिये, यह नर-बलि नहीं देख सकता ! उन्हें मुझपर अधिकार है, क्योंकि मैं उन्हीं की आत्मा की मधुर-छाया हूँ उन्हीं की सुंदर प्रतिमा हूँ। मेरे शरीर पर—मेरे प्राणों पर —मेरी अमर-आत्मा पर उनका अधिकार है, मुझसे चाहे जिस प्रकार की सेवा लें, मैं तैयार हूँ। पर मैं इस अनुरोध के लिये, इस वात्सल्य-पूर्ण आज्ञा का कभी अभिनंदन नहीं कर सकता, इसे कभी संमान की दृष्टि से नहीं देख सकता। मैं इसकी अव-हेलना करता हूँ। हाँ-हाँ—मैं तिरस्कार-पूर्ण भर्त्सना करता हूँ।

मेरे विचार पर तुम खीझोगे, भैया ! क्या करूँ? मेरा दिल ही ऐसे वज्र का बना है, जिसपर लकीर नहीं खींची जा सकती। मैं इतना निर्मम हूँ कि मुझमें दया का लवलेश भी नहीं रह गया है। माना कि माता-पिता वृद्ध हैं; संमान-नीय हैं, मैं उनके बुढ़ापे में उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता, इसका मुझे खेद है। पर, करूँ क्या? लाचार हूँ। हृदय ही अपने वश में नहीं, तो मैं फिर उसे कैसे समझाऊँ? कैसे अपने काबू में कर सकूँ।

तुमने भावी-पत्नी का मनोरम चित्र मेरे सामने रखने में कुछ कोर-कसर नहीं रखी है। यह है तुम्हारा ममत्व ! हैं तुम्हारे आंतरिक अनुराग के छींटे !! पर, क्या कभी तुमने सोचा

है—उस कुमारी का जीवन क्यों विषम बनाने चले हो ? क्यों, उस सुकुमार कलिका को दूसरों के कठोर चरणों से ठुकराकर दलित करना चाहते हो ? क्यों तुम उसपर तरस नहीं खाते ? भैया ! क्यों यह अनुदारता उसके प्रति की जा रही है ? कौन जिम्मेवार होगा इस पाप का ? किसपर वह अपने आँसू बहावेगी ? उस आँसू का मूल्य कौन दे सकेगा, भैया ! ज़रा विचार करो।

तुम दोष से बरी नहीं हो सकते। कहो, क्यों ? इसका उत्तर तुम्हारा उन्नत हृदय ही देगा। यदि तुम्हारी आत्मा धुँधली छाया में पड़ गई हो, तो, सुनो मैं ही इस प्रश्न को हल कर दूँ। उत्तर मैं क्या दूँगा—समझ गए होंगे। फिर छलना क्यों ? बचपन में तुम्हीं ने ऐसी शिक्षा मुझे क्यों दी ? तुमने मुझे मनुष्य बनाने के लिये अपने हृदय का रक्त क्यों भेंट किया ? उसी दिन तुम्हारा कर्तव्य था—मुझे शिक्षा से दूर रखना। आज, मुझे पश्चात्ताप के गर्त में गिरना न पड़ता। आज तुम्हारा 'धीरेन' तुम्हारे सामने यह गुस्ताख़ी न कर सकता। है न ठीक ! फिर पछताते ही क्यों ? क्यों अपनी करनी पर आप ही जलते-भुनते हो, भैया ! माफ करना !! मैंने बड़ी कड़वी बात कही है। इसका मुझे खेद है—बहुत ही खेद है। पर इसकी दवा ही क्या ?

यहाँ भी एक ऐसी घटना घट गई है, जिससे मैं और

भी विवश हूँ। विवशता मेरे हृदय से है। इसके लिये मैं किसी को दोषी भला क्यों बनाने लगूँ ? पर, अभी तुमसे और कुछ न कहूँगा। तुम्हें जानने की जब तक प्रबल इच्छा न होगी, मैं नहीं सुनाऊँगा, सुनाकर तुम्हें दुःखी न करूँगा। तुम सामाजिक जीव हो, और मैं भी सामाजिक जीव हूँ। समाज से भिन्न कोई रह नहीं सकता। जिसे संसार में रहना है, फिर वह समाज से बाहर रही कैसे सकता है। दोनों के समाजों में विभिन्नता है। तुम लकीर के फकीर हो, तुम 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' को श्रेष्ठ समझते हो, मैं उसका निरादर करता हूँ। तुम उच्छृंखलता के शत्रु हो, और मैं उसका उपासक हूँ। तुम्हारी आँखें एकांगी हैं, और मेरी सर्वांगीण। फिर, मेरे विचारों में—मेरे भावों में परिवर्तन तो दीख ही पड़ेंगे ! इसमें किसका दोष दूँ, मेरे हृदयेश !

लिखते-लिखते रक्त आँसू के रूप में बह रहा है। मैं अधीर हो उठा हूँ। इच्छा थी, मैं अपना सविस्तर वर्णन आपके सामने रखूँ। पर, अब, एक लाइन भी लिखने की शक्ति शेष नहीं। हृदय से बार-बार आहें निकल रही हैं। मैं मूक होता जा रहा हूँ और निष्प्राण।

मेरी पूजनीया माता और श्रद्धेय पिताजी के चरणों में मेरा प्रणाम कहना। मैं उनके नाम भी पत्र, इसीके साथ,
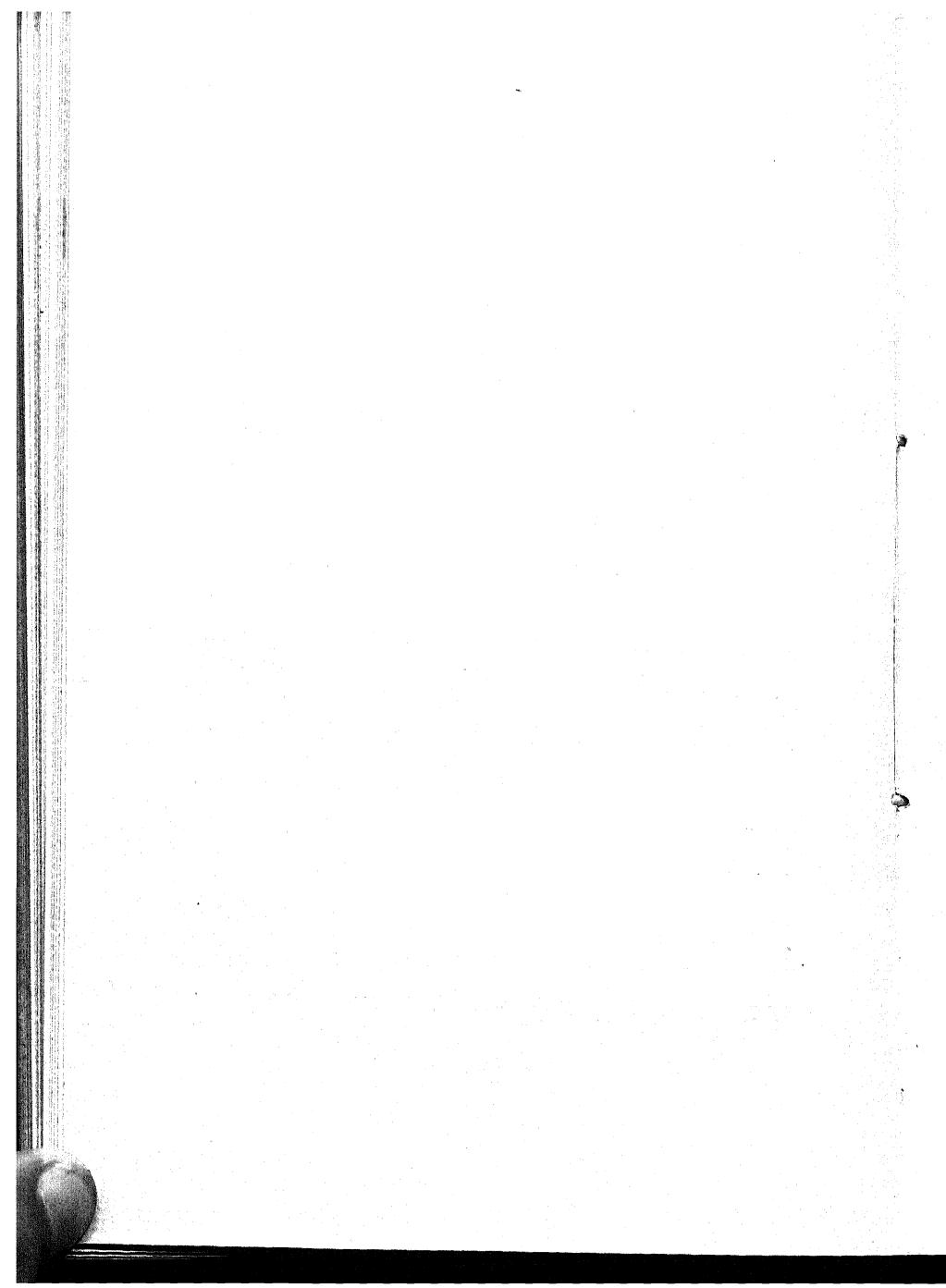
भेज रहा हूँ। उन्हें अवश्य दे देना। दुःख तो अवश्य उन्हें होगा, पर मेरे लिये भला उपाय ही क्या है ? मैं सपूत नहीं, कपूत हूँ—कुल-कपूत हूँ। नहीं तो, बूढ़े माता-पिता को······।

अच्छा अभी इतना ही। प्रतीक्षा में हूँ तुम्हारे उत्तर की। न आने पर भी, मन स्वस्थ होने पर फिर कभी······।

स्नेह-सिंचित—तुम्हारा—

धीरेन

पत्र-७

श्रीयुत प्रो० धीरेंद्र कुमार, M. A.

हिंदू-विश्व-विद्यालय,

बनारस।

मेरे 'तुम' !

क्षमा करेंगे। आज मैं आपको 'तुम' शब्द से ही संबोधित कर रही हूँ। इसमें मेरा दोष ही क्या ? कलम ने आप-ही-आप 'तुम' लिख डाला। अब मैं इसे मिटाऊँगी भी नहीं, हृदय—स्वच्छ-हृदय का वेग जिस ओर बह चला, उसे रोकने-वाली मैं कौन ? दया-सिंधो ! यह अपराध—अनजाना अपराध, क्या क्षमा न करोगे, प्यारे !

आह ! मुझे क्या हो गया है ! मैं क्या कहने चली थी, और रुक गई क्या कहने को। यह भी तो पगली का प्रलाप ही है न ! एक दिन—दो दिन—की बात नहीं है, देव, लगातार साठ दिन, पाँच घंटे और पचीस मिनट बीत गए—जब तुम्हारे दर्शन नसीब हुए थे। उस समय मैं कितनी खुश थी ! कितना मुझमें उल्लास था, कितनी उमंगें थीं ! पर, आज मन की वह प्रसन्नता, आज वह हृदय का आंतरिक उल्लास और वह दिल की छलकती हुई उमंगें कहाँ चली गईं—किस धारा में मिल-कर अस्तित्व गँवा बैठीं—मुझे इसका पता-तक न लगा, प्यारे ! मैंने तुम्हारे पथ पर पलक-पाँवड़े बिछा दिए हैं, पर तुम न आए। सर्वस्व खोकर सारे अरमानों को केवल तुम्हारे नाम

पर अर्पण कर, अपनापन मिटा तुम्हारे नाम की रटन लगा रही हूँ; पर तुम ? तुम तो, हृदयेश, ऐसे निर्मोही निकले—आह, ऐसे कठोर, कि एक बार भी आँखें उठाकर न देखा। हाय रे दुर्भाग्य ! हाय री अभागिन मैं ! क्या अब भी तुम्हारी दया-दृष्टि इधर न फिरेगी, प्राण-धन !

इसमें मेरा स्वार्थ है, मेरे धन, इसीलिये तो तुम नहीं आ रहे हो ! स्वार्थ है, और अवश्य है, पर इसलिये कि, तुम मेरे हो; क्योंकि तुमने मेरी आत्म-रक्षा की है। फिर किस दिन के लिये तुम मुझे इस तपन में झुलसा रहे हो, तपा रहे हो, जला रहे हो ! क्या तुमने कसम खा ली है कि कभी उसे उलटकर देखोगे ही नहीं ? यदि हाँ, तो समझ लो—स्त्रियों में भी बड़ा बल है। क्योंकि, उन्होंने मातृ-जाति में जन्म-ग्रहण किया है—शक्ति देवी की वे साकार प्रतिमा हैं, देव मैं अबला हूँ सही, पर मेरी आहें—ओह ! प्रलयंकर आहें—दिल का वह निर्मम उच्छ्वास कभी विफल होने का नहीं, प्यारे ! समझ लो—स्त्रियाँ मर मिटना खूब जानती हैं। तब क्या मैं तुम्हारे नाम पर नहीं मिट सकती ? क्या तुम समझते हो—कायर हूँ मैं हृदयेश ! अस्तु—

दिल तो चाहता था, आज खूब खरी-खोटी सुनाऊँ, पर मुझे यह अच्छा न जँचा। कारण है, मैं स्वयं अपने-आप पर

खेल जाऊँगी, पर तुम जिन बातों से प्रसन्न रहो, उनकी सदैव चिंता रखूँगी। नहीं, तो फिर इस अधम का ठिकाना ही भला कहाँ है ?

अब मैं और कुछ विशेष नहीं लिखना चाहती । मैं एक सप्ताह से रोग-शय्या पर पड़ी हूँ, अम्मा भी बाहर चली गई हैं। मैं यहाँ—नहीं दुनिया में, इस समय अकेली हूँ। फिर, मेरी देख-रेख की बात ही क्या ! मुझपर तुम्हारी बड़ी ममता थी, जब तुम्हीं भुला बैठे, तब फिर मैं अब इस संसार को इस भरे यौवन को किस तरह सँभालूँ ? आह ! हम बे-कसों का भला और आसरा ही क्या है ?

अच्छा तो, आनंद-घन ! अबसे मुझे पत्र देकर तुम्हें कष्ट पहुँचाने का अवसर ही न आएगा। भगवान् करे—मैं आपकी मंगलमयी मूर्ति का अपने हृदय-मंदिर में संस्थापन कर इस असार-संसार से बिदा हो जाऊँ ! अहा ! उस दिन मैं अपने को कितनी भाग्यशीला समझूँगी ? हाय, प्यारे ! क्या मेरी तरसती आँखों की अतृप्त पिपासा न बुझेगी ? न बुझेगी, प्यारे ! क्या एक बार शुभदर्शन कर अपने को कृतकृत्य नहीं कर सकती ? हृदयेश !

"आँखें नहीं हैं चेहरे पर तेरे फ़कीर के,
दो ठीकरे हैं भीख के दीदार के लिये।"

समझ रखो, यदि तुमने इतने पर भी दया न की, इतने पर भी तुम्हारा दिल न पसीजा, तो सिवा पछताने के जीवन-भर और कुछ हाथ न आवेगा।
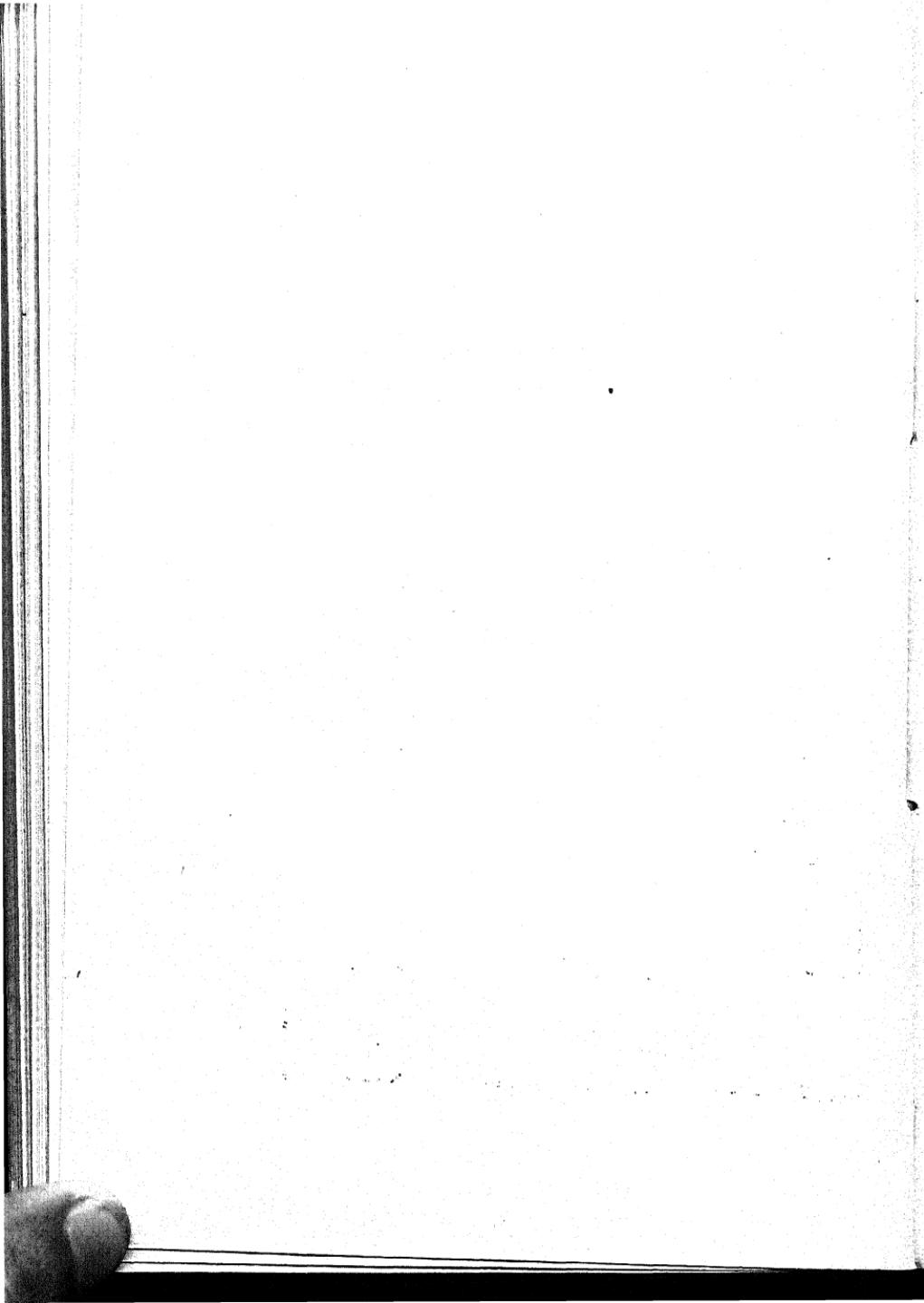
"उल्फ़त पै वफ़ा पै, जाँ-निसारी पै मेरी,
आगे नहीं रोए थे तो अब रोएँगे।"

अभागिनी—
हसीना

पत्र—८

श्रीयुत रामकृष्ण वर्मा

हजरतगंज,

लखनऊ।

बंधुवर

मैंने पहिले पत्र में उल्लेख किया था कि यदि तुम्हारा पत्र समय पर न आया, तो मैं उसकी प्रतीक्षा में न रहूँगा। यही कारण है कि, मैं आज अपनी करुण-कहानी, जिसे सुनने के लिये तुम अधीर हो उठे होगे, सुनाने के लिये तैयार हूँ; विवश हूँ, असमर्थ हूँ अपने हृदय पर। सहृदय होकर क्रूर कैसे हो सकता हूँ! कृतज्ञता-पाश में बँधकर फिर कृतघ्न कहलाने का भोंड़ा साहस कैसे कर सकता हूँ, भैया!

ओह! नारि-हृदय का परिचय न था मुझे, मेरे कृष्ण! मैं तो समझता हूँ, संसार उसे उपेक्षणीया समझकर यथार्थ में अपनी बुद्धि-हीनता का—मूर्खता का-ही परिचय दे रहा है। अहा! वह कितना कोमल है और कितना स्निग्ध; कितनी दया है उसमें और कितना ममत्व; कितना अपनापन है और कैसी स्वार्थ-शून्यता; और अहा! कैसा है उसका उत्सर्ग! कैसा अनुराग, कैसी मादकता! अहा! कैसा छलकता सौंदर्य है, कैसा सौरभ, कितना उसमें मधु है और कैसी मदिरा; आह! कितना नशा! चाहे जिस पहलू से—जिस दृष्टिकोण से, देखो, उतनी ही भव्यता, उतनी ही मनोमोहकता, उतनी

ही निर्मलता—पवित्रता और उतनी ही सादगी का अवतार वह दीख पड़ेगी। इतने पर भी हम लोग उसका संमान क्या करते हैं? हमारी दृष्टि में उसका कौन-सा स्थान है! क्या पुरुष-वर्ग की यह ना-क़द्रदानी नहीं है? क्या पुरुष-जाति का यह अत्याचार—यह अधःपतन नहीं कहा जा सकता कि, जीवनोत्सर्ग की बलवती आकांक्षा रखनेवाली को वह विलसिता की वस्तु समझे, उसे तुच्छ-दृष्टि से—हेय-दृष्टि से देखे ! क्या यह संताप-ताड़ित विडंबना नहीं है? भैया! क्या उसके प्रति यह विश्वास-घातकता नहीं? परमात्मा ने उसे दर्शनीय बनाया है, स्नेह की सरसी है—पुत्तलिका है, वह सुधा-सीकर-सिंचित प्रतिमा है, कुछ विलास की सामग्री नहीं! हाय रे मनुष्य-जाति का पतन! इतने पर भी हम नारि-जाति की हत्या से नित्य-प्रति बाज नहीं आते! छिः!

यह मेरे व्यथित-हृदय के उद्‌गार हैं, उच्छ्वास हैं—इसलिये नहीं कि मैं उनसे स्वार्थ साधना चाहता हूँ; इसलिये नहीं कि, मैं उसकी रूप-ज्वाला का पतंग हूँ; इसलिये नहीं कि मैं उसे विलास की सामग्री समझता हूँ और इसलिये नहीं कि मैं काम-ज्वर से संतप्त हूँ। नहीं—उसकी दयनीय दशा पर सहानुभूति प्रदर्शित करता हूँ; उसके स्वर्गोपम-सौंदर्य-सुधा को परमात्मा की विमल विभूति समझता हूँ; उसके उन्नत-

हृदय का—सरसता का—संमान करता हूँ । उसके नैसर्गिक स्नेह पर विश्वात्मा का कौशल स्मरण आता है, उसमें मैं 'परमानंद-सहोदरत्व' अनुभव करता हूँ ; और उसकी सर-लतापूर्ण मादक मुसकान पर विश्व को सुधा-सिंचित-सा समझता हूँ । हो सकता है—यह मेरा पागलपन हो ! हो सकता है, मैं अत्युक्ति के पथ पर जा रहा होऊँ ! पर, विश्वास है, और दृढ़ विश्वास है कि, मैं न तो उद्भ्रांत ही हो गया हूँ और न मेरे कथन में आडंबर, अनौचित्य और अत्युक्ति की ही गंध है । भैया ! तुम समझोगे मैं दार्शनिक तत्व का विवेचन कर रहा हूँ । पर, नहीं, मैं सच्चे और अकपट हृदय से कहूँगा—और, बार-बार कहूँगा—मुझ-सा हँसोड़, और अव्यवस्थित हृदय का युवक दार्शनिकता को भला क्या जाने !

ओह ! मैं क्या कहने को था और क्या कह रहा हूँ ! हाँ, तो मैं आज जो कुछ तुमसे कह रहा हूँ, वह अवश्य ही बड़ा रहस्यमय है—विचारणीय है। चाहे तुम मुझे जो कुछ कहो, भैया ! पर, मैं तो अवश्य ही दीवाना हूँ, हाँ दीवाना ही हूँ उसकी अनन्य भक्ति पर—श्रद्धा पर और उत्सर्ग हूँ उसकी सादगी पर—निष्कपट हृदय पर !

अच्छा, अब यह पहेली सुलझाए देता हूँ ।

कुछ दिन हुए, मैंने एक वेश्या-कन्या को डूबते हुए गंगा

की गोद से बाहर निकाला था। मंगलमय पिता ने उसकी रक्षा की, जीवन दिया। मैं कई दिनों तक बराबर उसकी सेवा-शुश्रूषा में जाता रहा। मेरे स्पर्श से, मेरे सहवास से, सदाचार और सहानुभूति से उसकी आँखें खुलीं; उसने अपने को, मनुष्यत्व को—स्त्रीत्व को—पहिचाना। फल-स्वरूप उसने हृदय-दान किया। मैंने उसके इस अभूतपूर्व उत्सर्ग को स्वीकार किया—सत्कार किया; पर वारांगना-रूप में नहीं। मैंने उसमें दिव्यात्मा की कमनीय कांति देखी, धुँधली पापात्मा की काली छाया नहीं! मैंने विचारा और कुछ दिनों तक विचार करता रहा कि वारांगना भी तो मानवी ही है! मानव में जहाँ दुर्गुण होते हैं, वहाँ कुछ-न-कुछ सात्विक गुणों की भी तो स्थिति होती है? मनुष्य निर्दोष नहीं, सदोष भी है। फिर वह वारांगना दोषों की खान और पाप का पुंज ही क्यों समझी जाती है? माना कि, उसमें केवल दोष-ही-दोष है, तो उसका भागी है कौन? वह या हमारा समाज? किसने उसे वीभत्स पाशविक वृत्ति-ग्रहण करने को वाध्य किया है? क्या समाज और समाज के दकियानूसी विचार के भले कहलानेवाले लोगों के मत्थे इस कलंक का टीका नहीं है! क्या समाज जान-बूझकर अपनी ही व्यभिचार-लीला अखिल विश्व को नहीं दिखला रहा है! ओह! मैं भी कितने भुलावे में था? पर

मेरी अंतर्दृष्टि का पर्दा उसीके संसर्ग से हट गया। अहा! उसे वेश्या कौन कहेगा? वह देवी है—साक्षात् देवी! मेरी गुरु है, मैंने उससे बहुत-कुछ सीखा है और सीखूँगा। तुम कहोगे—मैं 'अनियारे दीरघ नयन…' का शिकार बना हूँ, उसकी बाह्य आकृति ने मुझे आकर्षित कर लिया है—मुझ-पर जादू डाला है। पर, नहीं, भैया! मैं सच कहता हूँ—मेरा अंतःकरण साक्षी है, मेरी अंतरात्मा साक्षिणी है—यदि मैं उसे व्यभिचार की दृष्टि से देखता होऊँ। वह बाला—चतुर्दश-वर्षीया बाला, जिसने यौवनागम के प्रथम प्रभात में भीत-चकित हो सुंदरता के भार से अपने सुकुमार चरणों को अभी आगे बढ़ाया है, और जिसके हृदय में शैशव-यौवन की मधुर संक्रांति गुदगुदी पैदा कर रही है, वह इस छल-प्रपंच की बात भला क्या जाने! वह वारांगना की कलुषित कोख से प्रसूत हुई है सही, पर उसके सदाचरण और सरलता के सामने बड़ी-बड़ी सती कहलानेवाली माताओं की कन्याएँ भी कभी किसी भी दशा में ठहर नहीं सकतीं! कितना उसका सुकुमार हृदय है! कैसी उसकी सुडौल आँखों में—पलकों पर करुणा-सरलता-सादगी और सिधाई नाच रही है! वह भावा-वेश में कितनी विनम्र-लज्जाशीला हो जाती है—सुकोमल कलिका-भारावनत लतिका-सी! आह! और मैं क्या कहूँ

उसके विषय में, भैया ! मैं तो मंत्र-मुग्ध हूँ, उसपर, उद्भ्रांत हूँ, फ़िदा हूँ—पागल हूँ ! और मुझे न चाहिए। केवल उसकी मधुर-मंजुल-मूर्त्ति की वह मनोहर मंद-मंद मुसकान मेरी आँखों पर—पलकों पर—झूमती रहे और मैं निर्निमेष दृष्टि से उसकी सौंदर्य-सुधा पान करता रहूँ। मैं इतनी-सी निधि पाकर ही अपने को सदाशिव-सा सुखी और अश्विनी-सा अमर समझूँगा।

मेरी आंतरिक विवशता का अब तुम्हें पता लग गया होगा। मैं किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकूँगा—अपना हृदय दूसरे को देने में ! क्या हृदय दो बनाने पड़ेंगे ? क्षमा करना, भैया ! मैं तुम्हारी निर्मित मूर्ति को अपने तुच्छ-हृदय में आसन न दे सका—इसका मुझे खेद है ! इसके लिये तुम्हें भी खेद अवश्य होगा, पर हृदय-दान करके फिर मैं उसे वापस ले भी तो नहीं सकता ! क्योंकि, उसपर, अब मेरा अधिकार रहा ही कहाँ ?

पूज्य माता-पिता तो इस संबंध से न जाने, मुझे क्या-क्या समझेंगे, पर असमर्थ हूँ—मजबूरी है। मैं उन्हें समझा लूँगा, उनके चरणों की अहर्निश सेवाकर प्रसन्न कर लूँगा, पर मुझपर जो भार आ पड़ा है—उसे तो मुझे वहन करना ही होगा। मैं उसे त्यागकर—उसकी आत्मा को कुचलकर—
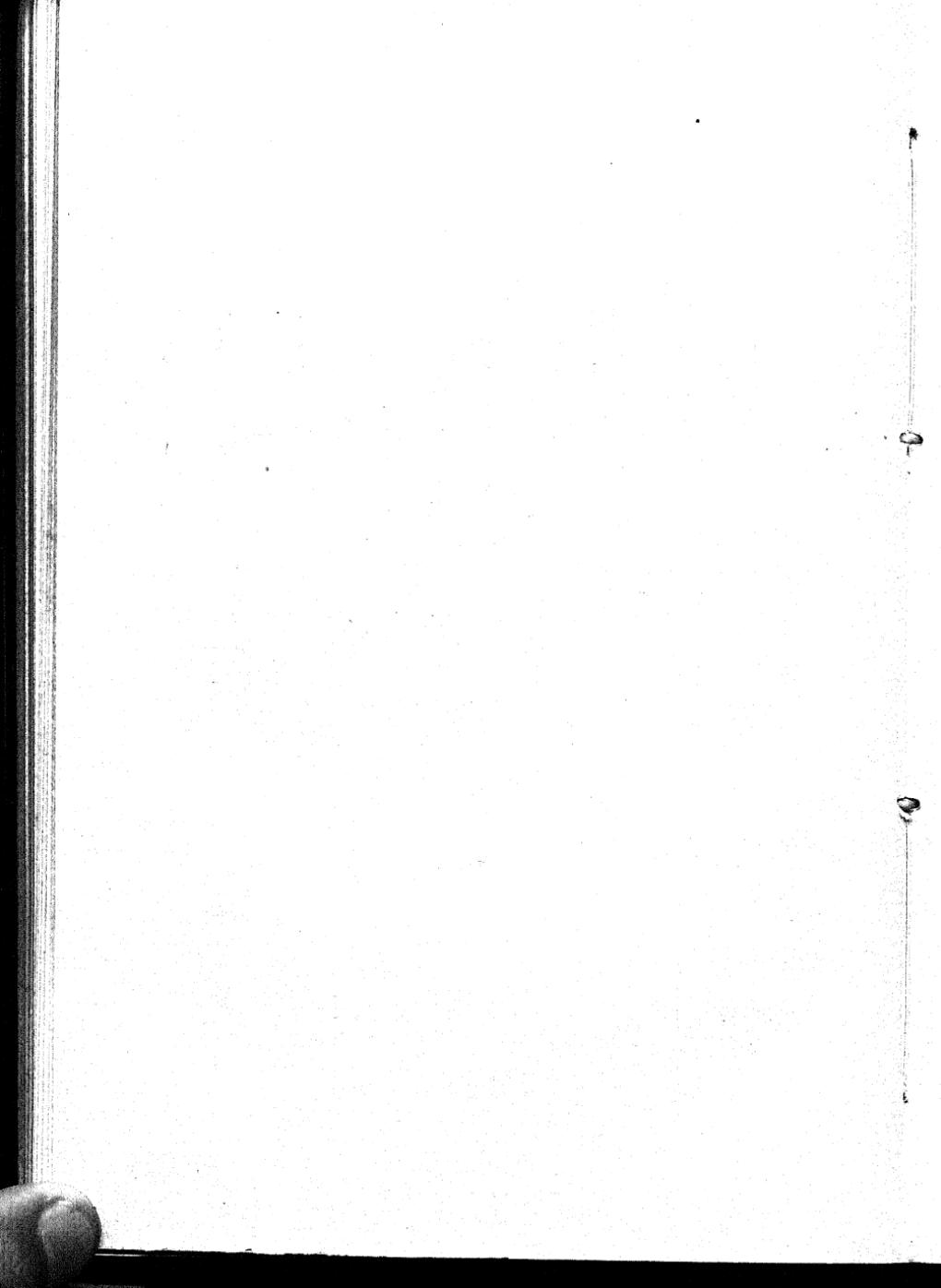
परमात्मा के सामने कौन-सा मुख दिखाऊँगा ?

अब लिखने को और कुछ शेष नहीं रह गया। अब तुम्हीं बतलाओ—मैं क्या करूँ ? तुमने सदा से मुझे अपनाया है, अब इस उभय-संकट में तुम्हारे सिवा और कौन मेरा पथ निर्दिष्ट करेगा ?

क्या शीघ्र ही मैं तुमसे पत्र पाने की आशा करूँ ? बिगड़ोगे तो नहीं, भैया ! सच कहना ! भाभी मुझपर हँसेंगी, मेरी बाल-चपलता पर बार-बार हँसेंगी—कुढ़ेंगी-खीझेंगी-बिगड़ेंगी। पर, लाचार हूँ। क्या वे मेरी याद कभी करती हैं ? उनके चरण-तल पर मेरी श्रद्धा के दो आँसू चढ़ा देना, भैया ! सचमुच मैं उनके सामने गुनहगार हूँ। प्यारे लल्लन का समाचार तुमने नहीं लिखा ! कितने निर्मम हो, भाई तुम ! अब, अब से फिर ऐसी भूल न करना !

स्नेह-भाजन—

धीरू

प्यारी कुंदन,

अहा, उसी दिन वे आ ही गए। कैसा समय था वह! पर, आए तब, जब मैं अपने आपको खो चुकी थी, जब मैं संसार की असारता पर अपने को भुला चुकी थी और, जब मैं शरीर और मन से खिन्न और पगली-सी हो चुकी थी। आए वे ज़रूर, पर मुझसे उनका कुछ भी सत्कार न हो सका, कुछ भी इज्ज़त न हो सकी। मगर—मगर बहिन, वे सचमुच स्वर्ग के देवता ही हैं। मैंने जब से होश सँभाला है—लाखों मनुष्य देखे, पर वे—अहा, वे तो वे ही हैं। उनकी तुलना—उनकी मिसाल—बस, उन्हीं से ही दी जा सकती है।

तुझमें चुलबुलाहट होगी सुनने के लिये—जिसके लिये तूने हरेक ख़त में लिखा है। कैसी पगली है तू, कुंदन! क्या वह कभी क़लम की नोंक पर आ सकती है! क्या वह कह-कर किसी को समझाई जा सकती है! क्या प्रणय-संगीत कभी दर्शनीय हुआ है, जो आज होगा? फिर मुझसे—मेरे ही मुँह से—वही बात, जो किसी से कहते नहीं बनी, तू सुनना चाहती है? है न पगली! कैसी तू निकली हठीली! तू रंज मानेगी, बस इसीलिये! इसीलिये तू मुझसे बोलना बंद कर देगी, मेरी प्यारी!

अच्छा, तुझे खुश तो रखना ही होगा—तुझे ना-ख़ुश हो मैं कैसे कर सकती हूँ—मेरी सखी !

ओह ! वे आए—आख़िर वे आए; पर मुझे रुलाकर—लाख जलाने पर, लाख ज़िद्द करने पर और मेरी बीमारी की हालत में, जब मैं संसार-समुद्र में एक बूँद-सी दिख रही थी, जब मैं इस दुनिया में अपने को एक ठीकरे-सी समझ रही थी। पर, हाय रे वह दिन ! मैं सनाथ हो गई, उन्होंने मुझे डूबने से बचाया, प्राण-दान दिया, अपनाया, हृदय से लगाया, सहारा दिया, संसार के स्वर्गोत्तम आनंद तक पहुँचाया ! ओह ! क्या नहीं किया—क्या नहीं दिया ? पर, हाय रे दुर्भाग्य ! अभागिनी मैं उन्हें कुछ भी न दे सकी ! देती ही क्या ? था ही क्या ? और है भी अभी तक क्या ? पर, वे इतने ही से प्रसन्न हैं। हैं न वे महापुरुष ! स्वर्ग के देवता !

मैं संसार से ऊब-सी गई थी ! हृदय हार चुकी थी; आत्म-हत्या तक भी मैं करने के योग्य न रह गई थी । संसार में दुःखों की कमी ! मगर यह दुःख ? उफ़, इसके सामने और दूसरा हो ही क्या सकता है ? मैं समझती हूँ—यह थी उनकी जाँच—हाँ जाँच थी मेरे हृदय की; नहीं तो रुला-रुलाकर वे मुझे क्यों छोड़ते ! क्यों उन्हें मेरे रुदन में इस तरह का आनंद आता ! मगर, भगवान ने मेरी लज्जा रख ली, और

खूब रख ली, कुंदन ! नहीं तो, मैं कहीं की न रहती—कहीं मेरा निशान तक भी न रहता।

हाँ, तो वे आए, जब मैं बीमार—ज्वर से बीमार—बिछावन पर पड़ी थी। संध्या का समय था। मेरी आँखों से आप ही आँसू बह रहे थे ! मैं अधीर थी—अवलंब-हीन थी। द्वार खुला ही था। उसी समय वे आए। मुझे कुछ पता न था, कब आए, कैसे आए, किधर से आए और कब तक मेरी दशा पर विचार करते रहे—मुझे निरखते रहे ? मगर, मैंने पहिली बार उनकी पुकार सुनी तब—जब मैं एकांत-चिंता में पड़ी थी, जब मुझे मृत्यु के सिवा और कोई प्यारा नहीं दीख रहा था। उन्होंने धीरे से—आहिस्ते से-पुकारा—'हसीना; ओ, ह···सी···ना !'

मैंने करवट बदली,—चिंता भग्न हुई, बोली पहिचानी, शर्माई आँखें खोलीं–देखा, सामने कुछ दूरी पर वे खड़े हैं ! पर, मैं मन-ही-मन खीझी–कुछ झुँझलाई भी, कुछ तरसाना चाहा; मैं उठ न सकी, नशा था,—किसका ? मुझे मालूम नहीं। मैंने उसी दम आँखें बंद कर लीं।

कुछ देर के बाद फिर आवाज आई–'क्यों हसीना, सचमुच बीमार है ? कब से ? क्या हुआ है ? आह, मैंने ख......। हसीना ! ओ हसीना !'

मैं तनी थी सही, पर मैं अपने को रोक न सकी। कुछ ही देर में मेरा भ्रम दूर हुआ ! मैं उठ भी तो नहीं सकती थी ! मैंने लेटे-लेटे ही कहा—'कौन ?......अहा ! आप ! आपका शुभागमन हुआ है ! भले वक्त पर आए !' इतना कह ही पाई थी कि दिल का बाँध टूट पड़ा। आँखों से—भोली आँखों से—दिल के क़तरे आँसू के रूप में बह निकले ! मेरे गाल, तकिये, चादर—सभी भींज गए। उसासें थमती ही न थीं। आख़िर, उनसे रहा न गया। पास आ गए। बिछावन पर ही बैठे, दाहिना हाथ उठाया, नाड़ी देखी, धीरज बँधाया। कहा—'बेशक मैंने ख़ता की है, देवि ! मैं अपराधी हूँ—सज़ावार हूँ !'

'नहीं'—मैं शर्माती हुई बोली—'गुनहगार तो मैं हूँ। इसीलिये, तो भगवान मेरे गुनाहों का बदला दे रहे हैं। क्या यह बदला नहीं है ?'

'नहीं, हसीना'—उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा, 'तुम नारी होकर भी धन्य हो ! क्योंकि, तुमने कष्ट सहकर भी धीरज को हाथ से जाने नहीं दिया। मैंने बे-शक ख़ता की है—.जुर्म किया है—नारि-जाति का अपमान किया है।'

'हो सकता है'—मैं तकिये में मुँह छिपाती हुई बोली—'मगर, मेरी दृष्टि में यह अपमान नहीं; यह उसका उचित सत्कार है—उपयुक्त प्रतिदान है।'

"क्या सत्कार किसी के रुलाने में धरा है, हसीना ?"—उन्होंने मुसकुराते हुए पूछा।

"रुदन भी तो 'उनकी' इच्छा—अभिलाषा—का ही फल है। फिर रुदन रुदन ही कहाँ रह गया ? स्त्री पुरुष की इच्छानुवर्तिनी है ! उसे क्या अधिकार, कि वह 'अपनी' इच्छा के विरुद्ध एक डग भी आगे बढ़ाए !"

'धन्यवाद !'—उन्होंने मेरी ओर निहारते हुए कहा, 'अहा, तुमने परास्त किया, हसीना !'

मुझसे हँसी रुक न सकी। तू समझेगी—मैं कितनी नीच हूँ। ठीक है, नीच न होती, तो उनके साथ यह गुस्ताखी भला कैसे कर बैठती ! क्या करती ? हँसी मुझसे रोकी ही न गई। आखिर, वे भी हँस पड़े। कैसा अट्टहास था ! कैसा मधुर संगीत था ! ओह ! कितना मधुर-कितना सुधामय-कितना शुभ्र !

'सरकार !'—मैंने उनकी ओर तिरछी नजरों से देखते हुए कहा, 'कैसे भूल पड़े आप इस तरफ ? कैसे आज यह टूटी झोपड़ी याद पड़ी ?'

" 'सरकार' कहकर लज्जित न करो। तुम्हारी बीमारी का क्या हाल है ?"—उन्होंने पूछा। उनके पूछने में सत्यता थी, हृदय का दर्द था, सहानुभूति थी।

'हाल पूछकर क्या करेंगे ?'—मैंने दूसरा बाण छोड़ा।

'क्यों हसीना ?'—वे दर्द-भरी आवाज़ में बोले, 'मैं कैसे जानूँगा—कौन-सी बीमारी है !'

'कैसे नहीं जानते !"-मैंने मुसकुराते हुए कहा, 'यदि नहीं जानते तो फिर आते आप कैसे ?'

मैं सजग होकर तकिये के सहारे बैठ गई थी, वे भी पाँव लटकाए तकिये के सहारे उढ़के हुए थे।

"मुझे 'आप' क्यों कहती हो ? हसीना ! क्या मैं तुम्हारे मुख से 'तुम' नहीं सुन सकता !"—वे हसरत-भरी निगाहों से मेरी ओर देखते हुए बोले।

मैं लजा गई। मैं शर्माती—कुछ मुसकुराती हुई बोली—'हाँ यह मेरी भूल है, मेरे प्यारे ! आह, फिर भी मैंने ग़लती की ?'

"कौन-सी हसीना ?"

"न बोलूँगी !"

" आह, बोलो—बोलो हसीना !"

"यही कि मैंने आपको, नहीं, तुम्हें कहा—मेरे प्यारे !"

"वाह ! यह ग़लती !"—हँस पड़े वे।

आह ! आगे न कहूँगी, कुंदन और सुनना है ? हाय ! उन्होंने मुझे दोनों हाथों से अपनी ओर खींचकर मेरे थिरकते अधरों को चूम ही लिया ! मैं बे-सुध हो गई थी—बस, एक ही चुंबन में ! आह ! कितनी तन्मयता थी उसमें ! आह !

कितना नशा! मैं चंचल हो उठी, उन्होंने मुझे छोड़ दिया था।

उन्होंने हँसते हुए कहा—'क्या यह मेरी ग़लती नहीं है, हसीना!'

मैं क्या उत्तर देती! मैं तो अपने-आपको खो चुकी थी। ओह! वह स्पर्श! उस मधुमय स्पर्श में कितना जादू था! कैसी जहरीली मदिरा! मैं सच कहती हूँ, कुंदन! मेरे रग-रग में बिजली दौड़ गई, सारा शरीर सिहर उठा, रोमांच हो आया। मैं उन्हीं के सामने-उन्हीं की गोद में गिर पड़ी। उन्हों-ने दोबारा मेरे अधर-प्रदेश में कंपन पैदा कर दिया—गोल-मटोल गालों पर मुहर बैठा दी। मैं स्वर्गीय सुख का अनुभव कर रही थी। उत्सर्ग हो चुकी थी उनपर; हाँ, न्यौछावर कर चुकी थी, अपने को, बस उनके चरणों पर।

कुछ क्षण तक तो दोनों की एक-सी ही दशा रही। न वे ही कुछ बोल सके और न मैं ही कुछ बोल सकी। अंत में वे बोले—'तो, हसीना, माफ़ करना।'

"माफ़ी कैसी? किसलिये? मेरे देवता!"

"यही कि तुम्हारे प्रेम का पुरस्कार मैं दे सकूँगा कि नहीं।"

"पुरस्कार! पुरस्कार की मैं भूखी नहीं। मेरी एक आज्ञा है।"

"कहो, कौन-सी।"

"क्या, आज्ञा पूरी होगी ?"—हँसते हुए मैंने कहा।

"हाँ, जान पर खेलकर, जीवन की बाजी लगाकर।"—उनके वचनों में, देखा, दृढ़ता थी, सत्यता थी।

"क्या इससे मुड़ोगे तो नहीं ?"

"मुड़ोगे ? ऐसा मत कहो। मैं पुरुष हूँ ! युवक हूँ। दो बातें क्या जानूँ ! जब तुम्हें दिल दिया, तो फिर.........।"

मैंने बीच में बात काटकर कहा—"अच्छा तो, मेरी यही अभिलाषा है—मैं इन चरणों की सेविका बनूँ।"

"उफ़ ! सेविका—दासी ! ऐसा स्वार्थ-त्याग ! क्यों हसीना ! यह जीवन-उत्सर्ग क्यों ? अहा ! तुम, और यह उत्सर्ग ?"—उन्होंने मुसकुराते हुए कहा।

"तो क्या तुम मुझे वेश्या-जाया समझकर मेरा अपमान करना चाहते हो ?"—गुस्से से मेरा चेहरा सुर्ख हो गया।

"नहीं, तुम धोखे में हो ! मैं मातृ-जाति का संमान करता हूँ—आदर से देखता हूँ; चाहे वह हो वेश्या या देव-कन्या।"

"तो फिर मेरे उत्सर्ग पर चकित होने का कारण ?"

"जो कभी देखा न गया, जो सुना न गया !"

"हो सकता है। पर, समझ रखो, प्यारे, हममें अभी भी ऐसी बहुत मिलेंगी; हाँ, यदि समाज उन्हें यह अवसर दे। क्या रूप का सौदा बेचने से कभी भी अंतरात्मा विचलित

नहीं हो सकती ? फिर, उन्हें अवसर ही कौन देता है ? वहाँ तो है—स्वार्थ, विलासिता, आँखों का नशा।"

"पर, अच्छा होता, यदि तुम किसी दूसरे को······।"

"ऐ, क्या कहा ? किसी दूसरे को ! क्या मैं पुरुष हूँ, कि एक को छोड़कर अनेक पर दौड़ती फिरूँ ? मैं स्त्री हूँ—अबला हूँ। एक बार जिसको मन—प्राण दे चुकी, सदा-सभी अवस्थाओं में उसी की होकर रहूँगी। इसमें आगा-पीछा मत करो, प्यारे! प्रतिज्ञा भी तो मुझसे पहिले ही कर चुके हो।"

उन्होंने मुसकुराते हुए कहा-"हसीना ! मेरी प्यारी हसीना ! मैं नहीं जानता था कि तुम इतनी चतुर हो। आज मैं तुम्हारे सामने कई बार परास्त हो चुका। तुम्हारी विजय हुई, हसीना ! विजय का सेहरा तुम्हारे ही सिर बँधा है। पर, डर है, मैं तुम्हारा सत्कार कर सकूँगा या नहीं। भय है, कहीं तुम्हारी उचित मर्यादा का पालन मुझसे न हो सकेगा। और सबसे अधिक तो इस बात पर संदेह है कि मेरे साथ तुम चिरकाल तक सुखी रह सकोगी ! कारण है—मैं कठिन पथ का पथिक हूँ। उसका जिसपर बहुत कम नौजवान चला करते हैं ! हो सकता है—कभी फाँसी पर लटकना पड़े, सूली पर चढ़ना पड़े !"

"मेरे नाथ ! मैं उस अवस्था में आपकी सहायिका ही हूँगी, कुछ बाधिका नहीं। प्रणय का मतलब विलासिता नहीं

है—व्यभिचार नहीं; जो प्रणय सात्विकता का सहायक नहीं होता, वह अधम प्रणय है, और नीचों के बीच ही यह प्रवृत्ति देखी जाती है। मैं खुशी से देश के कार्यों पर बलिदान होने दूँगी, उस दिन मैं तुम्हारी आरती उतारूँगी—अपने हाथों से चंदन तिलक लगाऊँगी। मैं वेश्या-पुत्री हूँ सही, पर......।"

"यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं, हसीना!"—उन्होंने मुझे अपनी ओर खींचते हुए कहा, "तुम स्वर्ग की सुधा हो, तुम्हारा सुधामय संभाषण है; मुख पर सुधा का सिंचन है। तुम सुधामयी हो, हसीना, तुम सौन्दर्यमयी हो। इसलिये मैं आज से 'सुधामयी' के नाम से ही तुम्हें संबोधित करूँगा। आज से तुम मेरी हृदयेश्वरी हुईं—मेरे अंत-प्रदेश की रानी हुईं! हाँ, इस अनमिल संबंध से समाज डगमगाएगा—एक बार थरथरा उठेगा। पर, अब मैं तुम्हारा प्रोत्साहन पाकर उसका सामना करूँगा। अच्छा, एक बात कहता हूँ, सुधामयी!"

"कौन-सी!"—मैंने उचककर कहा।

"यही कि, तुमने इस विषय में अम्मा से संमति ली है?"

"और तुमने?"—मैंने मुसकुराते हुए, किंतु गंभीरता-पूर्वक कहा।

"नहीं।"

"फिर मुझसे यह प्रश्न क्यों? क्या कोई सड़े दिमाग़

का इस संबंध में सलाह दे सकता है ?"

"यदि वे ऐसा करने से अप्रसन्न हों; और तुम्हे स्थानांतरित करना चाहें !"

"जाने दो इन बातों को। मैं वह समय देख लूँगी। उसका पहिले से ही विचार कर क्यों अपने को अधीर करने लगूँ ! जहाँ तुम्हारी विशाल भुजा मेरी सहायिका है, वहाँ फिर मेरी क्या चिंता। मैं देख लूँगी उन्हें, उस समाज को, जिसने मुझे पापाचार की बलि समझ रखा है।"

"समझ लो,सुधामयी पीछे कहीं तुम्हें पछताना न पड़े।"

"नहीं, नहीं, मेरे देवता ! इसकी ज़रा भी परवाह न करो। जान पर खेल जाऊँगी, पर अपने को उस कुत्सित पाप-पंक में कभी पतित होने न दूँगी।"

"तो, तैयार हो ?"

"हाँ, पूरी तरह।"

"तो, तुम्हें हिंदू-धर्म की दीक्षा लेनी होगी, उसमें संमिलित होना होगा।"

"कैसे पागल हो, हृदयेश ! जब मैं वैसे विचार की न होती, तो फिर मैं तुम्हें वरण ही कैसे करती !"

"तो, कब तुम उसके लिये तैयार होती हो, सुधा !"

"जब, तुम्हारी आज्ञा हो।"

बहिन ! यह है मेरे जीवन की गाथा ! आखिर मैं उनकी हो गई, और वे मेरे। अब मैं निश्चित हूँ; पर, भविष्य अंधकार में है। अम्मा अभी तक लौटकर नहीं आई। न जाने, इसमें क्या रहस्य है। मेरे लिये और चिंता न करना। मैं जिस अवस्था में रहूँगी, अवश्य तेरी याद करूँगी। क्या तू भूलने कीचीज़ है !

इधर मैं कुछ दिनों तक उन्हीं की प्रतीक्षा में थी; अब मैं देर न करूँगी। मेरा पत्र समय पर तुम्हें अवश्य मिला करेगा। तुम अपनी संमति लिखना। क्या यह मेरा अन्याय तो नहीं !

जीवन सुख-दुःख के हाथों का खिलौना है—इसका मुझे प्रतिक्षण ख्याल है, और रहेगा। मैंने जान-बूझकर ऐसा किया है, आगे परमात्मा जानें। इससे मैं सुखी हो सकूँगी वा नहीं—मैं नहीं कह सकती ! पर, जीवन की साध मिट गई—

"नज़र आती नहीं अब दिल में तमन्ना कोई,
बाद मुद्दत के तमन्ना मेरी बर आई है।"
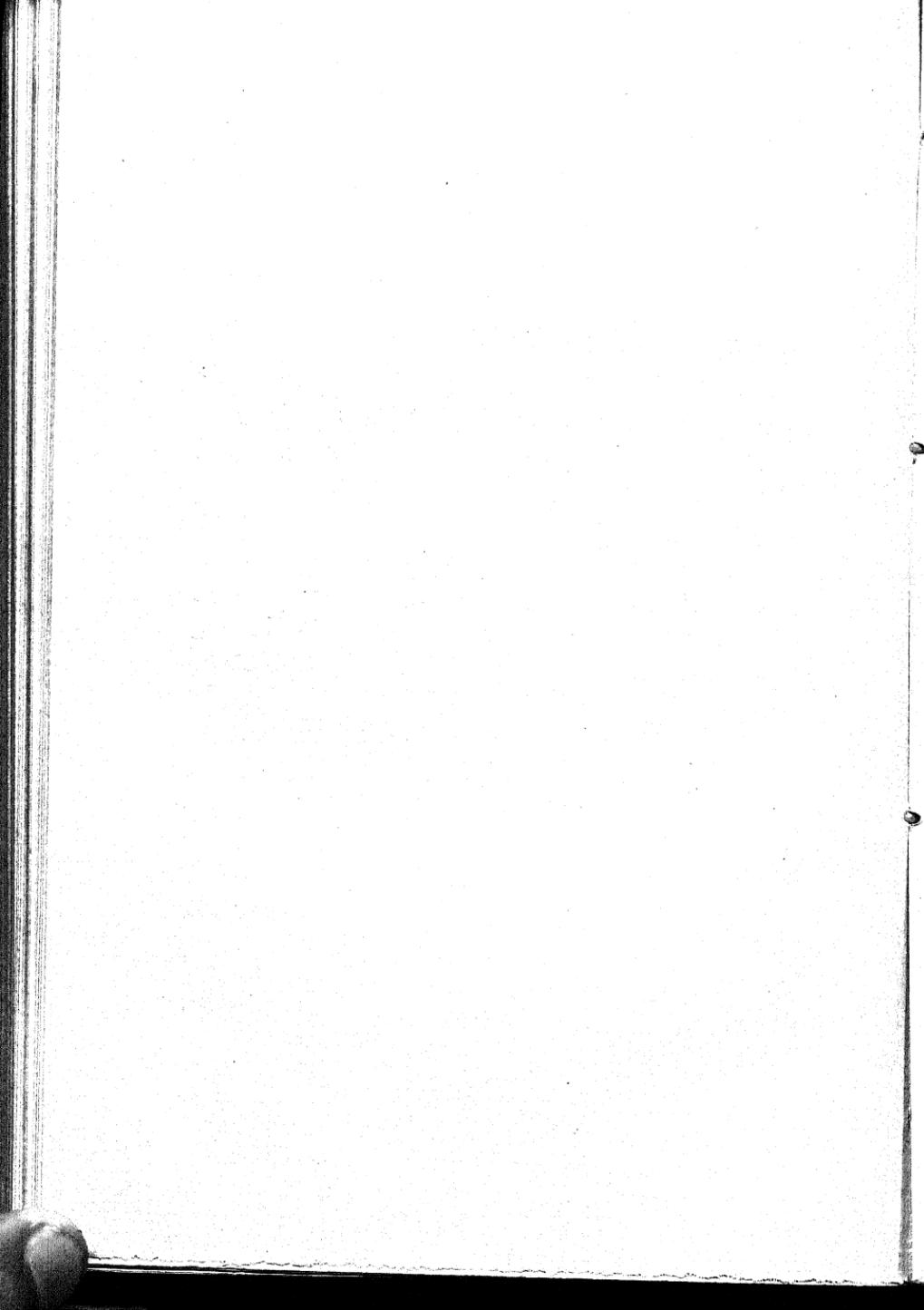
अपनी राय लिखो। मैं आँखें पसारकर उसका स्वागत करूँगी।

मैं हूँ, तेरी वही—
हसीना

पत्र—१०

श्रीयुत रामकृष्ण वर्मा

हजरतगंज,

लखनऊ।

प्रिय भैया,

आह ! पिताजी का पत्र प्राप्त हुआ और तुम्हारा भी। कैसा भीषण पत्र है। कितनी ज्वाला ! कितना हृदय-विदारक हाहाकार ! हृदय अवसन्न हो गया इसे बाँचकर ! मुझमें ताक़त ही न रह गई कि अपने धड़कते हृदय पर किसी तरह अधिकार स्थापित कर सकूँ ! हृदय रह-रहकर उच्छ्वसित हो उठता है। आँखें अश्रु-वर्षा करते-करते थक गईं। न तो यहाँ—इस अवस्था में कोई सहारा ही है और न कोई आँसू पोछनेवाला ही। मैंने भीषण आवर्त में अपनी जीवन-नौका छोड़ दी है। अब मुझे मनुष्य की तो कम, उसी मंगलमय की दया का आसरा अधिक है। वही मेरी अकूल अनंत-गामिनी नौका की रक्षा कर सकता है।

ओह, पिताजी की वह कर्कश कर्ण-कटु वाक्यावली अब भी मेरे कानों में गूँज रही है ! वे मुझपर जुर्म करना चाहते हैं—करें; मुझपर तो उनका अधिकार है। पर, निरीह बेचारी अबला, जिसने, संसार किसे कहते हैं, जाना तक नहीं, मेरे संसर्ग से कौन-सा सुख लूटेगी ? उसके दरिद्र—किंतु प्रतिष्ठा पर मर-मिटनेवाले—पिता का भविष्य-जीवन कितना दुःख-पूर्ण और

दयनीय होगा ! उनके बाल-बच्चों की परवरिश का और कौन-सा सहारा रह जायगा ! पिताजी तो मुझे व्याहना नहीं चाहते, वे तो मुझे बेचकर संपत्ति-शाली बनना चाहते हैं। ओह ! उन्हें यदि द्रव्य ही प्यारा है, तो द्रव्य-प्राप्ति के तो और भी कितने साधन हैं, फिर एक दीन परिवार की सूखी हड्डियों से रक्त चूसने का यह असफल प्रयास क्यों करते हैं ? क्या मेरे प्रति उनका यही कर्तव्य है ? क्या उन्होंने इसी दिन के लिये, इसी स्वार्थ को साधने के लिये मुझे ऊँची शिक्षा देने का आयोजन किया था ! हाय रे स्वार्थ ! तेरा यह विद्रूप अट्टहास !

पिताजी ने लिखा है—'तू कायर है, कपूत है, लायक खानदान की नालायक औलाद है। यदि मैं जानता होता कि तू भविष्य में नालायक निकलेगा, तो मैंने तुझे उसी समय गला दबाकर मार न डाला होता, जब ऐसा करना कुछ कठिन न था......।' अंत में उन्होंने लिखा है—'यदि तेरा संतोषजनक उत्तर न आया, तो मैं समझूँगा कि मेरा पुत्र है ही नहीं। मेरी संपत्ति का एक मात्र उत्तराधिकारी तब कोई दूसरा ही होगा। मैं नालायक बेटे को.........।' हरे-हरे ! यह पैशाचिक कांड ! यही है सभ्य कहलानेवाले पुरुषों का कर्तव्य। भैया, मैं सच कहता हूँ—मैं कुल-कपूत ही कहलाऊँगा, सारी संपत्तियों को ढेले-सा ठुकरा दूँगा, पर जीवन रहते यह पापाचार मुझसे न

हो सकेगा मुझसे नारि-जाति का अपमान न देखा जायगा। नारि-हत्या का पाप मैं अपने सिर पर न आने दूँगा! यह मेरा ध्रुव निश्चय है, और यही रहेगा।

अफसोस! आज मेरी माँ इस लोक में न रहीं। नहीं तो पिताजी के मुँह से यह अभिशाप मैं कभी सुन सकता था! विमाता आखिर करें ही क्या? मैं उनकी क़द्र करता हूँ—प्रतिष्ठा करता हूँ, और वे भी मुझे जान से बढ़कर चाहती हैं—प्यार करती हैं; फिर भी उनका वश ही क्या है—अधिकार ही क्या है?

मैं पिताजी को क्या उत्तर दूँ?—अभी मैं इसी विषय पर सोच रहा हूँ। कभी दिल में आता है, उत्तर ही न दूँ; फिर सोचता हूँ कि यह मेरे पक्ष में अन्याय होगा। खैर, उत्तर तो दूँगा ही, मगर डर है कहीं विद्रोहाग्नि और भी प्रबल वेग से न धधक उठे। हाँ, किसी दिन तो यह आग अवश्य धधकेगी ही, फिर इसे एक बार जगा ही क्यों न दूँ? मैं उनकी स्थावर संपत्ति का उत्तराधिकारी स्वयं नहीं होना चाहता। मैं धन को अपने पाँव की बेड़ी समझता हूँ। फिर स्वेच्छा से क्यों यह बला खरीदने जाऊँ! रखें वे अपना धन अपने पास ही, मुझे यह प्रलोभन न चाहिए। मैं प्रतिष्ठापूर्वक, ईमानदारी के साथ जो कुछ कमाऊँगा, उसी में शांति के साथ जीवन-यापन करूँगा; पर, कभी

उनके दरबार तक भिक्षा की झोली लेकर न पहुँचूँगा। मंगल-मय पिता सबके स्वामी हैं।

हाँ, भैया! अब रही तुम्हारे पत्र की बात। तुम भी अजीब जीव हो, भाई मेरे! तुम क्यों उलझने लगे उन लोगों के साथ? नाहक तुमने मेरे पीछे गालियाँ खाईं—बदनाम हुए। तुम सबों को एक ही जगह रहना है, फिर आपस की किचकिच—आपस का मन-मोटाव—भला किसी भी दशा में, अच्छा हो सकता है! यह है, भैया, तुम्हारी ममता—तुम्हारा छोह मुझ अकिंचन के प्रति; नहीं तो क्यों यह नाहक बला अपने सिर उठाते!

मेरी जीवन-नौका के कर्णधार! तुमने लिखा है—'पिता के वचनों पर क्षुब्ध न होना। क्योंकि हिंदुओं के बूढ़ों का दिमाग़, बुढ़ापे में, सही रास्ते पर नहीं रहता.........।' माना! फिर, यह क्षुद्रत्व क्यों? क्यों यह टट्टी की ओट से नग्न शिकार! मैं उनका अदब करता हूँ—प्रतिष्ठा करता हूँ, वे मेरे आराध्य-चरण हैं, सब कुछ हैं। फिर, यह नारकीय लीला क्यों? यह मनुष्य-विक्रय किस दिन के लिये? ज़रा, उनके होश की दवा करो, भैया! मुझे तो उनकी दयनीय दशा पर दया आती है। तरस खाता हूँ, उनकी इस बूढ़ी अक़्ल पर!

पर, भाई, मैं तुम्हें किन शब्दों में धन्यवाद दूँ! यह जन्म का दरिद्र, अपनी निधि लुटाए, तो कहाँ से, कैसे और किस

तरह ! यथार्थ में तुम मेरे पथ-प्रदर्शक हो—मेरे पथ-निर्मायक ! तुम मुझे वह बल दो, बंधु, जिससे मैं अपनी 'गोल' तक पहुँच सकूँ। यही है मेरी उत्कंठा, यही है मेरा अरमान !

"दिल में 'हाली' के रहे बाक़ी न अरमान कुछ,
जी में है कुछ अब अगर बाक़ी तो यह अरमान है।"

तुमने मेरे वैवाहिक संबंध की चर्चा पर पहले तो खूब ही मज़ाक उड़ाया है—खूब ही हँसी की है ! मैं जितनी बार उन लाइनों को पढ़ता हूँ, उतनी ही बार नया-ही-नया मज़ा आता है। कितने तुम हँसोड़ हो, मेरे कृष्ण ! यह मज़ाक—यह तुम्हारी शोख़ी, ये चोखे-चूभते हुए काँटे ! यह दिल का बलबला ! गजब के जीव हो तुम, भई ! आह, अगर तुम अभी मेरे सामने होते, तो मैं तुम्हारी पीठ की मरम्मत कर देता, तुम्हारी बत्तीसी पर चंदन की जगह कीचड़ के छींटे उछालता। मगर, हो, यार, तुम मुझसे दूर—बहुत दूर, यही खैर है। वरना···! अच्छा !

मगर, मेरे मन-मयूर के मत्त करनेवाले घनश्याम ! तुम्हारे इस प्रहसन में जीवन का कितना तथ्य भरा पड़ा है ! कितने तुम व्यवहार कुशल हो, भाई मेरे ! कितना तुम्हें संसार का ज्ञान है ! मैं तुमसे ऐसी आशा नहीं रखता था। सच पूछो तो तुम्हें अपना समाचार देने में कठिन संकोच का सामना करना पड़ा। पर, अभी मैं अनुभव करता हूँ, वह मेरी दिल

की कमजोरी थी। तुमने मेरे विषय में जैसी प्रसन्नता प्रदर्शित की है, जैसा मुझे उत्साहित किया है, उसके लिये मैं आजन्म तुम्हारा ऋणी रहूँगा, मेरे अधिनायक! नहीं तो, कौन जानता था कि मैं इसमें कृतकार्य हो सकता था या नहीं। पर, अब विश्वास है, मेरा दिल समाज की इन शृंखलाओं से शीघ्र ही मुक्त होगा। मैं समाज की धाँधली में आग बरसा दूँगा, सामाजिक रूढ़ियों को अपने हथकंडों से चकनाचूर कर नेस्तनाबूद कर दूँगा, और जन्म के इस कोढ़ को तरासकर, अपने दिल को वज्र बनाकर, व्रण-रहित कलेवर में फिर से नवीन रक्त की धारा प्रवाहित करूँगा। मुझे संसार के हँसने की परवाह नहीं; और न माता-पिता के विचार की संकुचित सीमा में ही मेरा निवास है। मैं जड़ हिला दूँगा, मैं प्रलयंकर हूँ, मैं ध्वंसक हूँ, मैं षडयंत्र-कारी हूँ, तूफान हूँ, और रहूँगा।

तुम मुझमें विरोधाभास की गंध पाओगे, भैया! सच कहता हूँ, मैं विरोधाभास का अवतार हूँ। समाज मुझे ऐसा बनने को मजबूर करता है। एक ओर उल्लसित नारि-हृदय के अंत-प्रदेश का दीर्घ उष्ण उच्छ्वास, और दूसरी ओर यह समाज का जनाज़ा निकालने की तमन्ना! ऐसी दशा में विरोधाभास तो पाओगे ही, भैया! क्या करूँ, मजबूरी है मुझे अपनी दशा से।

हाँ, भाभीजी के लिये तो मेरे दो-शब्द रह ही गए। तुमने लिखा है—'वह तुमपर हँसती हैं और कहती हैं, क्या सचमुच धीरेन पागल हो गया ! एक वेश्या के रूप पर ! कैसी सुंदरी है वह ! कैसा उसका रूप है ! किस रूप पर, किस नाज़ो-अदा पर, किस गुण पर लट्टू हो गया ? क्या समाज की स्त्रियों में वे बातें न थीं······। अच्छा तो, कम-से-कम उसकी तसवीर ही देखकर······!'

मुझे खेद है मैं किन शब्दों में तुम्हें समझाऊँ ! मैं तो पागल हूँ ही, दीवाना हूँ, फिर मेरे पागलपन पर विचार ही क्या ? हाँ, उनका फोटो मैं शीघ्र ही भेजने का आयोजन करूँगा। छिः, फोटो मैं क्यों भेजने लगा ! यदि 'उनकी' आज्ञा हो तो, मैं 'इन्हें' ही उनकी सेवा में भेज दूँ। कहिए, भाभी साहिबा, हैं आप तैयार उनकी सेवा स्वीकार करने को ? पर, डर है, कहीं चमड़ा न छू जाय ! फिर मेरे भाई साहब की क्या हालत होगी ! यदि स्वीकार हो तो मैं शीघ्र ही इसका प्रबंध करूँ।

हाँ, एक बात कहनी रह ही गई। वह यह कि यही एक सुअवसर है, आप तीर्थ के बहाने भाभीजी को लेकर यहाँ अवश्य आवें। उनके रहने का यहाँ सब प्रकार का प्रबंध है, किसी प्रकार का कष्ट न होने दूँगा। इसी बीच में आप लोगों को 'उनसे' मिलने का भी अवसर अनायास आ जायगा; जिससे

हमारी सत्यता सिद्ध हो जायगी। हाँ, भैया, हैं आप तैयार मेरे विचार पर! शीघ्र सूचना दें।

लल्लन और बच्चन को मेरा प्यार।

पिताजी के नाम भी अलग पत्र इसी के साथ भेज रहा हूँ। यदि आवश्यकता समझना तो दे देना।

वियोगी—

धीरेन

पत्र—११
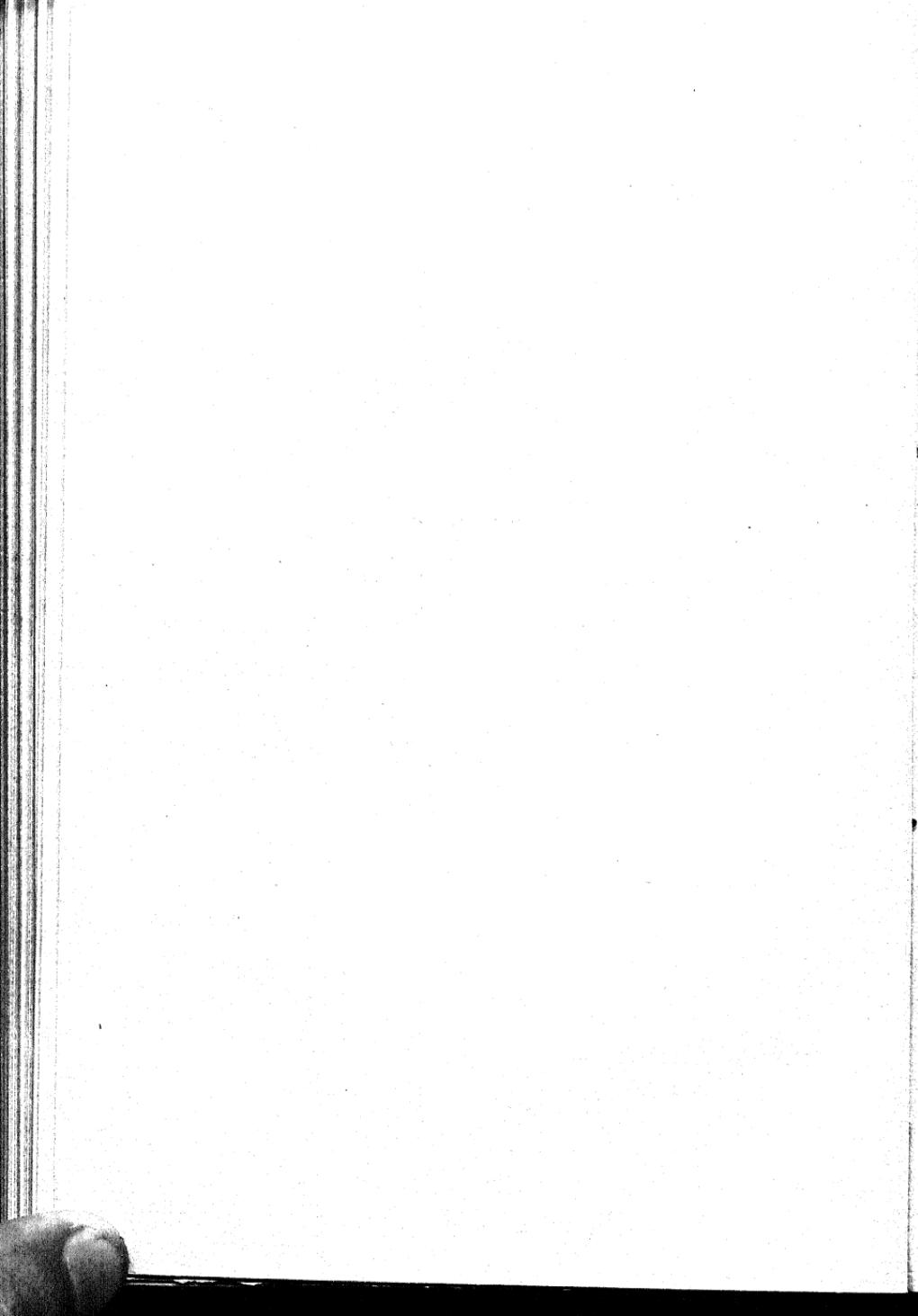
मिस कुंदन

१५१, सोनागाछी,

कलकत्ता।

मेरी हमदर्द कुंदन,

अम्मा आ गईं—बड़ी राजी-खुशी के साथ आ गइ। पर, इसी बीच में उनके न आने के रहस्य का उद्घाटन भी हो गया। ओह! यह षडयंत्र; यह जालसाजी! वह भी मुझ से—अपनी लख्ते-जिगर से! जिसे यादकर अभी-अभी गुस्से से मेरा चेहरा तमतमा उठा है, मैं पसीने-पसीने हो गई हूँ! आँखों पर लहू के क़तरे उतर आए हैं, सर और दिमाग़ में तूफ़ान मचा हुआ है। उफ़! ये शोले बरसानेवाला नज़ारा! यह चालबाजी! हाय! यह धोखा! सपने में भी कोई इसका गुमान कर सकता है? मैं किन हर्फ़ों में लिखूँ, कुंदन! जिस बात का डर था मुझे, मैं जिससे कभी-कभी ख़ौफ़ खाती थी, आखिर उसी वक्त का मुझ अभागिन को—मेरी जैसी बदनसीब को सामना करना पड़ा, और न जाने कब तक सामना करना पड़ेगा इसका! मेरे लिये यह दुनिया बीरान-सी नजर आती है। हो भी क्यों न? जब कोख में ढोनेवाली अम्मा ही अपनी न रहीं, तो फिर किसपर नाज़ करूँ? सुनते हैं, रिश्तेदारों में अम्मा का दर्जा ही सबसे आला है, मगर मुझे तो मालूम हो रहा है—अम्मा से बढ़कर और कोई खतरनाक़ जानवर नहीं। उफ़! कितनी बदनसीब हूँ मैं! कहाँ है न्यायकारी परमेश्वर?

मेरी हालत—मेरे दिल की हालत—क्या हो रही होगा, मेरी बहन, तुम्हीं पता लगा सकती हो। मैं 'इन्हें' लिख भी तो नहीं सकती! किस तरह लिखूँ? क्या लिखूँगी? वे मुझे क्या समझेंगे? कौन मेरी बातों पर विश्वास करेगा? आखिर वे समझेंगे ही—मैं तो फिर भी वेश्या की छोकड़ी ही ठहरी न! कहीं वे इसे वेश्या की चालबाज़ी ही न समझ लें! छिः! चूल्हे में जाय यह पेशा, यह रूप का सौदा! हाय री मतवाली जवानी! हाय रे रूप-मद का विषमय आदान-प्रदान! तेरा बुरा हो।

तू तो यों ही मुझपर बिगड़ रही होगी। बिगड़ने की बात भी है! कहाँ चिट्ठियों का ताँता और कहाँ इस तरह चुप्पी साधना! पर, माफ़ करना कुंदन! तू बिगड़ रही होगी यह कह-कर कि मैं किसी भुलावे में पड़ गई हूँ, मुहब्बत की रस्सी में लटक रही हूँ, खुशी और चहचहे के हिंडोले पर झूल रही हूँ। समझना तो तेरा वाजिब ही ठहरा। मगर कौन जानता था कि इसके पेट में विष की ज्वाला है—मुसीबतों की लू है। हाय! परमेश्वर न करे, किसी को ऐसा दिन दिखलाए। कहाँ तो एक ओर छलकते हुए प्यार का वह नशा, और कहाँ यह दूसरी ओर क्रूर काल का तांडव-नृत्य! अमृत में विष का संयोग! खुशी में अफ़सोस का नजारा! हाय री मानव-जाति! 'अशर्फ़ुल मख्लू-कात' होकर तेरा यह पतन!

आह ! दौलत ने किसकी आँखों को अंधा नहीं कर दिया ? दौलत ने किसे नहीं नंगा नाच नचाया ? दौलत ने किसके दिल पर कब्जा नहीं किया ? यह है उसी की खुराफ़ात, कुंदन,—जिसके लालच में पड़कर मेरी अम्मा आज मेरे जान की गाहक बनी बैठी हैं; जिसने मेरी अम्मा के दिल को बे-अख्तियार कर लिया है। न जाने यह कैसी हवस है ! बूढ़ी हुईं, इसी पापाचार में सिर के बाल सफेद हुए, और इसी में........; फिर भी यह हवस न गई—दिल की मुराद पूरी न हुई। मगर मैं ? मैं जान पर खेल जाऊँगी, पर यह दूकानदारी मुझसे न हो सकेगी। चाहे लाख मुसीबतें मेरे सिर पर मड़राएँ, चाहे मुझे दर-दर भीख माँगने की नौबत आवे; चाहे दुनियाँ की नजरों में मैं नीच ही क्यों न समझी जाऊँ और चाहे मैं दीन की रहूँ और न दुनिया की—मंजूर है, मगर यह मुझसे न हो सकेगा ! मैं जिसको दिल दे चुकी, उसी पर जान भी दे डालूँगी, पर, 'उनके' नाम में बट्टा नहीं लगा सकती, उनका दीन और ईमान बर्बाद नहीं कर सकती।

तेरी उत्सुकता बढ़ रही होगी—आखिर बात क्या है ? मैं एक-एक कर तुझसे सभी बातें अभी कहूँगी। तुझसे छिपाकर क्या होगा, कुंदन ! तू मेरी रहनुमा है, हमदर्द है, फिर तुझसे न कहूँगी तो किससे कहूँगी ? कौन मेरी बातें

सुनेगा ? कौन मेरी मुसीबतों पर आँसू बहाएगा ? इतने दिनों तक मैं इसे छिपाना चाहती थी, पर अब देखती हूँ कि छिपाने से सिवा ग़म बढ़ने के और कोई फ़ायदा नहीं। हाँ, कम-से-कम तुझसे कहकर दिल तो हलका होगा ! कुछ आँसू तो रुकेंगे ! हाँ-हाँ, तुझसे आज मैं सब कुछ कहूँगी। सभी कुछ कहती आई हूँ, फिर इसे भी तुझसे क्यों न कहूँ ? अच्छा, तो सुन, हाँ, सुनने के पहिले अपने दिल को कड़ा तो कर ले—नहीं तो तुझे ग़श न आ जाय।

अम्मा जिस दिन हठ करके जाने को तैयार थीं, और उन्होंने मुझसे जब अपने चलने की बात कही, तब मैंने उनसे कहा—'मुझे क्यों अकेली छोड़े जा रही हो, अम्मा, मुझे भी लेती चलो न !' इसपर वे बिगड़कर बोलीं—'आखिर मैं यह घर किसके भरोसे छोड़ जाऊँ ! यह किसी फ़कीर की कुटिया तो है नहीं, आखिर यहाँ कुछ-न-कुछ दौलत है ही !'

'दौलत है सही'—मैंने कहा—'पर, मैं अकेली रह ही कैसे सकती हूँ ?'

इसपर वे बहुत बिगड़ीं और मुँह बनाते हुए बोलीं—'नन्हीं है न तू ? आखिर तुझ-सी उम्र की लड़कियाँ अकेली रहती कैसे हैं ?"

मैं चुप हो रही, मेरी जबान तक न हिल सकी। वे चली

गई, मैं उदास हो पड़ रही। मैं कर ही क्या सकती थी। दिन बीतने लगे। म अपनी उदासीनता छोड़ खुशी के साथ रहने लगी। उस समय दिल भी खूब लग गया था पढ़ने में! मैंने उसी समय धड़ाधड़ कई हिंदी और अँगरेजी की किताबें पढ़ डालीं। बीमार पड़ी। वे आए। मिले। और इसके बाद जो कुछ हुआ, वह तो तू जानती ही है। इसके बाद उनका आना-जाना कई कारणों से रुक-सा गया। यही दूसरों के लिये मौक़ा था। अचानक वही आन गुज़रा।

कोई दस दिन की बात है। मैं संध्या को अपने बरामदे में टहल रही थी। मेरी आँखें तारों के गिनने में लगी थीं। चाँद भी निकल रहा था। मैं उसकी माधुरी पर मोहित हो रही थी। मुझे क्या पता कि दुनिया की हवा किधर को बह रही है। धीरे-धीरे अँधेरा होने लगा। दरवाजा खुला ही था। इसी समय एक पूरे 'जेंटिलमैन' अचानक मेरे कमरे में आ धमके। उनके पैरों की आवाज़ कानों में पड़ी। मुझे जान पड़ा, शायद 'वे' ही आए हैं। मैंने वहीं से बिना देखे ही कहा—'हाँ, खूब आए! किधर से आज दूज का चाँद निकल आया!' मगर सच कहती हूँ, कुंदन, जब वह दोजख का पुतला नशे में चूर मेरे सामने आ धमका, तब मेरी रही-सही अक्ल हवा हो गई। मैं अचानक बोल उठी—'ऐं! कौन? क्यों मेरी इज़ाज़त लिये बिना मेरे कमरे......?'

'ऐं ! इजाज़त ? मेरे आने के लिये इजाज़त की ज़रूरत, शौसन !'—मुँह बनाते हुए उसने कहा ।

'ज़रूरत ! क्यों ? क्या है अख्तियार आपको किसी भली औरत के कोठे पर आने का, बिना उसकी इजाज़त लिए हुए ?'—मैंने बिगड़कर कहा । मेरी भौंहें गुस्से से चढ़ी थीं, चेहरा सुर्ख़ हो रहा था ।

'वाह ! बाईजी ! खूब कही ! इस नाज़ो-अदा पर तो मैं सौ-सौ जान से कुर्बान हूँ, हुस्न की परी ! मैं तो तुम्हारी शुहरत ही सुनकर तुमसे मिलने आया हूँ ।'—उसने दाँत बिदोरते हुए कहा ।

'यह नाज़ो-अदा अपने पाकेट में रखिए । और, यह शुहरत.........।'

'शुहरत !'—उसने बीच ही में बात काटकर हँसते हुए अजीब ढंग से कहा—'इसी शुहरत पर तो मैं अपने को नियाज़ करने चला हूँ । मैं तुम्हें मालामाल कर दूँगा ।'

'मालामाल करो किसी दूसरे को । तशरीफ लौटाएँ यहाँ से ! आपने मुझे एक नाचीज़ वेश्या समझ रखा है क्या ?'—मैंने कहा ।

'वेश्या नहीं तो और क्या समझूँ...नवाब... !'

मैं बीच ही में बिगड़कर बोल उठी—'जनाब, सभी अपने-

अपने घर के नवाबज़ादे हैं ! वेश्या क्या आदमी नहीं होती ? उसकी इज्ज़त-आबरू नहीं होती ? सभी क्या खुले बाज़ार...?'

बीच में वह बड़बड़ाता हुआ बोल पड़ा—"हाँ-हाँ सभी-सभी ! कौन ऐसा है—जिसे दौलत की गोद में बैठने की तमन्ना न हो ? तुम समझ रखो, दुतकारने से काम न चलेगा ! मैंने यहाँ की एक-से-एक रंडियों को देखा है, निहाल कर दिया है-दोनों हाथों से रुपये लुटाकर रूप का सौदा ख़रीदा है। आज तुम अभी अधखिली कली हो, तुममें बहार है—निगाहों में बाँकपन है, इसीलिये तो तुमपर फिदा होने को तुम्हारे दरबार का मुहताज हूँ ! तुम क्या मुझे नहीं जानतीं। म वही हूँ जिसकी एक नज़र के लिये लोग तरस खाकर रह जाते हैं ! मैं यहाँ के अमीरों का सिरताज हूँ—सभी हुक्कमों का अफसर हूँ। मेरा नाम है—राय बहादुर नर्मदाशंकर, एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० एल० ए०। सँभलकर बातें करो। समझ लो–तुम किससे बातें कर रही हो।'

'मैं सँभलकर बातें कर रही हूँ !'–मैंने कड़ाई के साथ कहा—'माना, कि आप बड़े आदमी हैं—आला हैं, हुक्कामों के अफसर हैं, आप लोगों को निहाल कर देते हैं, पर आपके आचरण से तो ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता ! अगर आप बड़े होते, आला होते, तो क्या आला-मिजाज किसी की बहू-बेटियों पर नज़र

गड़ाए फिरते हैं—उनकी इज्जत पर पानी बहाते हैं ? क्या बड़ों का यह फ़र्ज है ? क्या बड़ों की इज्जतो-इशरत इसी में है ! छिः......... ।'

'उफ़, गुस्ताखी ! ऐसी सोख़ बातें न कर छोकड़ी ! नहीं तो मैं तेरी मिट्टी बर्बाद कर दूँगा—तुझे जहन्नुम-रसीद करा दूँगा ।'—उस दुष्ट ने मुँह से उगला ।

'जनाब, अपने होश की दवा करें। मैं बहुत सह चुकी ! मुझे आप बिलकुल बाज़ारू औरत न समझें। जिस तरह आप मुझे जहन्नुम-रसीद करना चाहते हैं, उसी तरह यह बंदी भी आपके बड़प्पन पर, आपकी आदमियत पर—पानी फेर देगी। आप जानते नहीं, औरतें जब तक बोलती नहीं, तब तक सीधी-सादी हैं—देवियाँ हैं; पर, जब वे बिलकुल बिगड़ खड़ी होती हैं, तो, उस समय, देवता भी उनसे पनाह माँगते हैं, फिर औरों की क्या बिसात !'—मैंने डाँटा ।

'ओह ! छोटे मुँह बड़ी बात ! मैं तुझे रत्ती-रत्ती पहिचानता हूँ और तेरे यार को भी ! पर, ऐ नासमझ, तू समझ रख—मेरे सामने उसकी हस्ती ही है क्या ! वह दो-ढाई सौ कमानेवाला मेरी बराबरी कर ही कैसे सकता है ? कहाँ तू भूल रही है ? दो हज़ार का 'चेक' लेकर तेरी अम्मा चंपत है और इधर चली है चाल चलने ?'

इतना कहकर वह झपट पड़ा मेरी ओर, कुंदन ! मैं उस समय अपने आपे में न थी। हाय ! स्त्री-जाति का यह अपमान ! हृदय तिलमिला रहा था, जान पर खेलने की बारी आ गई थी। मैं डपटकर बोल उठी—'खबरदार ! अगर एक क़दम भी आगे बढ़ाया तो... ।' और मैं लगी हल्ला करने—'चोर चोर... ।' आखिर, उसका देवता कूच कर गया, सारा नशा उतर गया और जान-बचाकर, दुम दबाकर, भाग निकला।

पर, इतने ही से उसकी नीचता का अंत न हुआ, कुंदन ! पिशाचिनी अम्मा की अक्ल पर मैं दंग हूँ ! हाँ, इसीलिये न इतनी जल्दी वे मुझसे भाग निकलीं ? उफ़ इसी दिन के लिये···? रोज शाम-सुबह इसी रास्ते में वह बदमाश गस्त करने लगा। मैं तो बड़ा भय खा रही थी ! यह घर भूतों का अड्डा मुझे नज़र आ रहा था ! मेरे लिये न तो आसमान ही था और न ज़मीन ही ! आखिर, मैं क्या करती ! खूब चौकस होकर रहने लगी। इच्छा तो थी, सारे अहवाल 'उन्हें' लिख भेजूँ ! मगर, न जाने, मेरा दिल क्यों घबड़ा रहा था ! मैं उन्हें इत्तिला तक न दे सकी ! फिर दूसरी घटना आ ही पहुँची। सच कहती हूँ, बहन, मैं कैसी बदनसीब हूँ ! दोज़ख़ में भी मुझे जगह न मिलेगी ! मुझे इसके लिये प्रायश्चित करना ही पड़ेगा। बग़ैर उसके मैं पाक हो ही कैसे सकती हूँ ?

कल रात की बात है। मैं गर्मी के मारे परेशान थी। बाहर का दरवाजा तो बंद कर दिया था, मगर छत का दरवाजा खुला ही था। बिजली की बत्तियाँ जल ही रही थीं। मैं पिछली रात को बहुत देर तक अपनी हालत पर विचार करती रही थी, इसलिये मुझे बड़ी रात गए नींद आई थी ! मैं नींद में बे-ख़बर पड़ी थी। इसी समय न जाने वह—दोज़ख़ का पुतला—कहाँ से, कैसे आ धमका और न जाने कब तक मेरे खुले बदन को निहारता रहा ! मगर, मेरी नींद टूटी, तब, जब वह मुझसे बलात्कार करने के लिये मेरे बिछावन पर बैठ मेरे ··· ! उफ़, मैं चौंक उठी, देखा,—देखा उसी नर-पिशाच को। मगर मेरी बुद्धि चटपट काम कर गई। मैंने फ़ौरन बिजली का बटन दबा दिया। कमरा अंधकारमय हो गया। उसी समय, मैंने धीरे-धीरे अपनी साड़ी से सेफ्टी पिन निकालकर फुर्ती से उसकी आँख में चुभो दी। मेरा निशाना ठीक था, खच से आवाज़ आई, और साथ ही वह जमीन पर ढुलमुलाकर गिर पड़ा। वह बे-होश था, मुझे तो डर था, कहीं उसकी मौत न आ जाय ! मैं उसी समय उसे घसीटकर दरवाजे के बाहर रख आई, और भीतर से बाहरवाले दरवाजे को बंदकर कोठे पर चढ़ गई। अपने कमरे में आकर फिर से बिजली का बटन दबाया, देखा—बिछावन पर लोहू के छींटे फौव्वारे की तरह पड़े हैं, ज़मीन

खून से तर है। मैंने उस समय बिछावन के कपड़े को अलग कर डाला। पानी लाकर ज़मीन धो डाली। धीरे-धीरे बरामदे में आकर रेलिंग के सहारे नीचे की ओर देखने लगी। अंधकार उस समय खूब था, कुछ दीख न पड़ा; मगर मैंने किसी का बड़बड़ाना सुना—वह बड़बड़ाहट उसी की थी, और वह बड़बड़ाहट बहुत दूर तक सुनाई दी। मैंने समझा—वही शैतान रास्ता नाप रहा है! फिर मैं बिछावन पर आ बैठी, पर नींद निगोड़ी भला क्यों मेरे पास आने लगी! यह है जीवन की मेरी करुण और वीभत्स गाथा! अब, तुम्हीं इस पर विचार करो, कुंदन!

अभी दो-पहर है, मैं तुझे यह ख़त लिख रही हूँ। अब, यहाँ रहना मेरा ख़ौफ़ से खाली नहीं। न जाने मुझपर कब क्या बीते! आज शाम को मैं मकान में ताला लगाकर कहीं चली जाना बेहतर समझती हूँ; पर कहाँ जाऊँगी—इसका कुछ पता नहीं। हो सकता है, मैं 'उनकी' सहायता लेने उनके पास पहुँच जाऊँ! पर, डर है, कहीं इससे उनके हृदय में कोई खलभली न उठ खड़ी हो! अच्छा, जो होगा, देख लूँगी; मगर, मैं यहाँ इस हालत में हरग़िज न रहूँगी। तेरे उत्तर की ज़रूरत नहीं। मैं कहाँ रहूँगी क्या करूँगी, क्या मेरी हालत होगी—भगवान् ही जानें। फिर, तू किस पते से ख़त देगी,

और वह मुझे मिलेगा कैसे !

मैंने चाहा था कि मैं तेरे पास ही पहुँच जाऊँ ! पर, मुझे यह विचार बदल देना पड़ा। वह इसलिये कि मैं फिर से उनके दर्शन प्राप्त न कर सकूँगी ! उनके दर्शन के बिना मैं जी ही कैसे सकती हूँ। अभी तो मैं उनके नाम पर इतना दुःख बर्दाश्त करने को तैयार हो रही हूँ ! यदि वहाँ भी मुझे शरण न मिलेगी तो मैं कहाँ रहूँगी, यह मेरे पत्रों से तुझे मालूम ही हो जायगा। पर रहूँगी तो यहीं रहूँगी। क्योंकि, यह मेरे देवता का स्वर्ग है न ! फिर मैं इसे क्यों छोड़ूँ ?

मेरे लिये दुखी न होना ! तू तो जानती ही थी कि मुझे मुसीबतों का सामना करना ही पड़ेगा। फिर अधीर होने की ज़रूरत ! अच्छा ! अभी इतना ही ! मैं ख़त पूरा करते ही आवश्यक कामों में लग जाऊँगी। आखिर मैं इस घर से आज रुख़सत ले रही हूँ। आगे, परमेश्वर की मर्जी। फिर कभी—

मैं हूँ बदनसीब तेरी—

हसीना
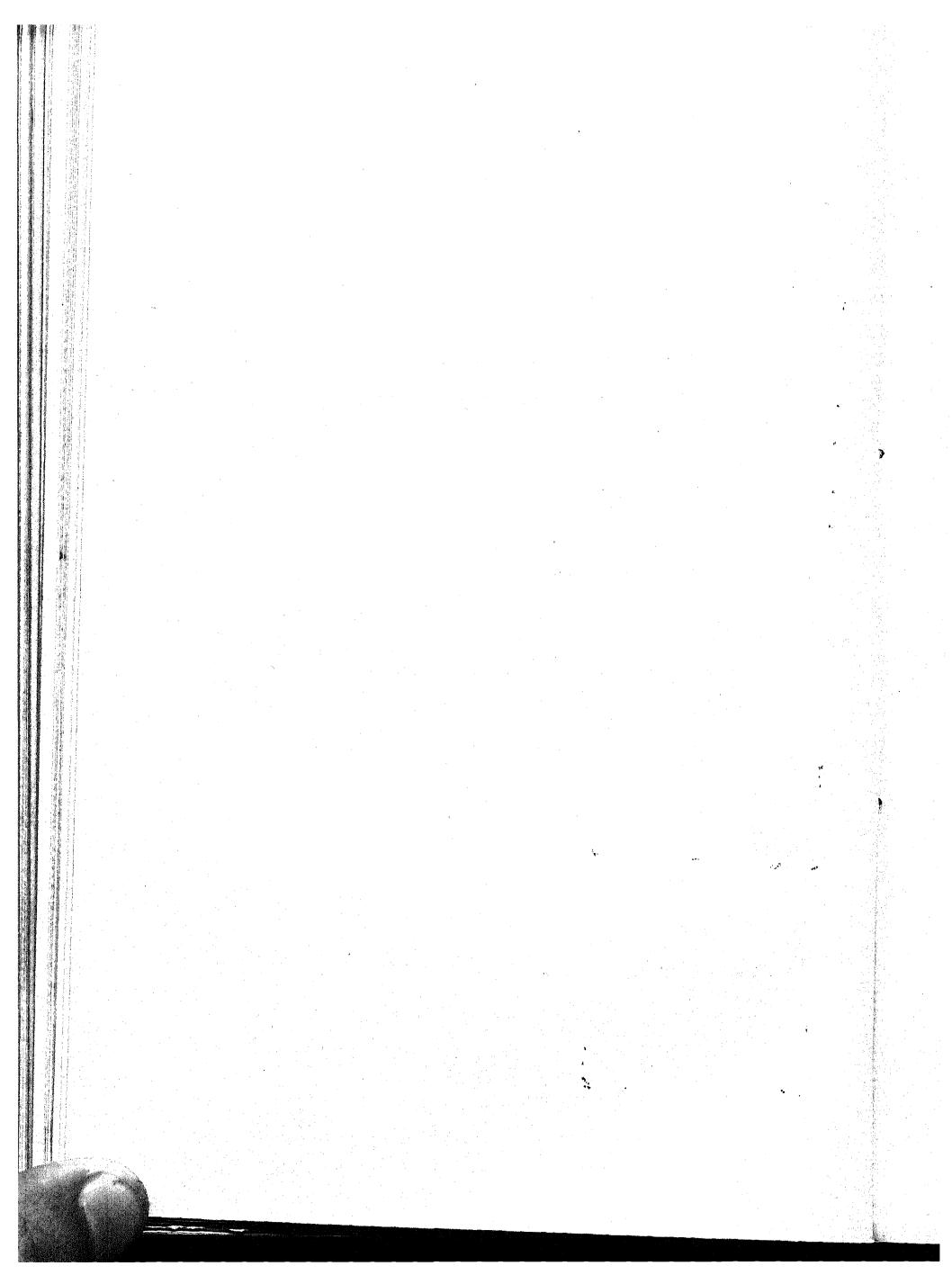
पत्र–१२

R. P. Sakalatwala Esqr.

Superintendent of Police,

Benares.

(अँगरेजी-पत्र का उल्था)

प्रियवर सकलतवाला !

इधर कई दिनों से न तो आप ही आ सके, और न मैं ही आपके पास जा सका। मैं तो किसी ज़रूरी काम में उलझा था, पर आप न जाने इस बीच क्या करते रहे? इसलिये, न तो आप ही मेरी बातें जान सकते थे और न मैं ही आपकी। पर, अब तो मैं आपका इंतजार भी नहीं कर सकता! मेरे दिल में ऐसी आग लग गई है, जो मेरे दिल को, मेरे कलेजे को, जला डालेगी—ख़ाक कर देगी। यह आग अगर बुझ सकती है तो आपसे ही। इसलिये, इस समय आपको—आपकी सहायता की—मुझे नितांत आवश्यकता है।

आप शायद यह अंदाज़ नहीं लगा सकते कि वह कौन-सी आग है, जिसमें मैं झुलस रहा हूँ! पर, भई, बातें सच्ची हैं, मैं कुछ भुलावे में डालकर आपको बुलाने का ढोंग नहीं रच सकता। मैं समझता हूँ, आप आज-कल व्यस्त हैं, परेशान हैं—नाम कमाने में, इज्जत हासिल करने में, अपने को बनाने में! इसलिये इस समय, जो भी लिख रहा हूँ, वह मेरी बेअदबी है—बेवकूफ़ी है। तो भी, मुझे उम्मीद है, आप दोस्ती निबाहने में कोई कोर-कसर न रखेंगे। आज मैं आपको एक पते की

बात बतलाना चाहता हूँ, आपको बड़प्पन का सहारा दिला रहा हूँ। अब भी क्या आप मेरी न सुनेंगे—मुझसे न मिलेंगे? मुझसे दो बातें करके मेरे उजड़े दिल को आबाद न करेंगे? मेरे दोस्त!

जो मैं कहने जा रहा हूँ, शायद उसका पता आपको न हो। आप अपनी डायरी में नोट कर लीजिए! यह सचमुच नोट करने के लायक़ है; नहीं, इसपर तुरत नज़र डालने की ज़रूरत है, नहीं—नहीं तुरत जहन्नुम-रसीद कर नामवरी हासिल करने का मौक़ा है!

हाँ, शायद आपके इजलास तक यह ख़बर पहुँच गई होगी, दरियाफ़ करें। वह है—गुलशन नामक वेश्या की लड़की मिस शौसन, पचास हज़ार की चीज़ें लेकर अपने घर से भाग निकली है। भगानेवाला है........हिंदू-यूनिवर्सिटी का प्रोफ़ेसर! देखें, आप पुलीस सबइंसपेक्टर की डायरी। लड़की कुसूरवार है या नहीं मैं कह नहीं सकता, पर, उसका बहकानेवाला तो अवश्य सज़ावार है। और है, एक बात बड़े मार्के की। वह प्रोफ़ेसर बाहर से तो सीधा-सादा देश-भक्त है, मगर, उसकी अंदरूनी हालत! कितने ही घरों की बहू-बेटियों को तबाह करना, बहकाकर रुपये ऐंठना, और बाद को किसी मालदार के हाथ उन्हें बेच देना, बस, यही काम है। आप सुनकर

आश्चर्य करेंगे, यह वही लड़की है, जिसको उस दिन आपने···
······। आप जिसपर·········। उसी को उड़ा ले जानेवाला है, वह प्रोफेसर। भई, सच कहता हूँ, मेरा तो मानो कलेजा ही काढ़ ले गया है। मैं तो उसपर मरता था, मरता हूँ और मरूँगा। उसपर दीवाना हूँ-फ़िदा हूँ। मगर, यह लाज तो आपके ही हाथ है, मेरे मेहरबान दोस्त! उस सोख लड़की ने मेरे साथ चाल चली है, मुझे धता बताया है। इतनी उसकी मजाल कि वह एक वेश्या की लड़की होकर—अदने की लड़की होकर—मुझे मुँह की खिलाए! और मैं रायबहादुर, मिस्टर सकलतवाला का दोस्त होकर······। हाय रे करम!

हाँ, यह मुमकिन है कि वह लड़की उसकी हो जाय। मुक़दमा होने पर, इजलास में कह दे कि मैं इसकी औरत हूँ। और यह मेरा मर्द है। बस इतने में ही मुक़दमे का खातमा होगा! कुछ फल हाथ न लगेगा! इसीलिये तो वहाँ बड़ी अक्लमंदी से काम लेना होगा। समझे न, मेरे दोस्त!

मुझे यह भी पता लगा है कि वह हिस्ट्री और पॉलिटिक्स का प्रोफेसर है। इसीलिये वह अपने लड़कों में 'नेशनल स्पिरिट' षड़यंत्र, राज-विप्लव, बोलशेविज्म आदि का दिल खोल-कर प्रचार कर रहा है। उन जवान लड़कों को उभाड़ रहा है—उत्तेजित कर रहा है। केवल इतना ही नहीं वह—केस में···। पर,

भाई, है बड़ा चालाक चलता-पूर्जा ! उसकी आकृति से तो कोई पता नहीं लगा सकता कि वह कभी राज-विद्रोही हो सकता है। दिखलाने के लिये तो देशी कपड़ों का—देशी चीज़ों का व्यवहार नहीं करता, सबों से मिलता और अँगरेजी सभ्यता को श्रेष्ठ समझता है, और, भीतर-भीतर यह षड्यंत्र ! मुझे तो शक़ है, कहीं......बम भी न........। आप जितने सुबूत चाहें मैं दूंगा, मैंने पता लगाया है, और समय आने पर म इसका पूरा ब्यौरा दूंगा। मैंने अभी से आदमी तैनात कर दिए हैं, वे लोग भी बड़ी सावधानी के साथ मेरे हुक्म के मुताबिक चल रहे हैं। कई ने तो उससे दोस्ती तक कर ली है। सभी तरफ से मेरे आदमी लगे हैं। मैं सरकार के राज्य में सुख की वंशी बजाता हूँ, सरकार ने मुझे इज्ज़त बख्शी है। सरकार की मेहरबानी से मैं रुपयों के ढेर पर बैठा हूँ, फिर मेरे सामने—मेरे ही सामने—उसका दुश्मन मुझे धता बताए, मेरी फँसाई हुई सोने की चिड़िया उड़ाकर ले जाय और मैं उसका मुँह ताका करूँ ! यह कभी हो सकता है ? मिस्टर सकलतवाला ! क्या यह कभी मुमकिन है कि एक रायबहादुर कभी एक नीच खान्दान की छोकड़ी से डरकर दुम दबाकर बैठ रहे। वह भी तब, जब कि उसका दोस्त एक खूंखार नामजद पुलिस सुपरिंटेंडेंट है !
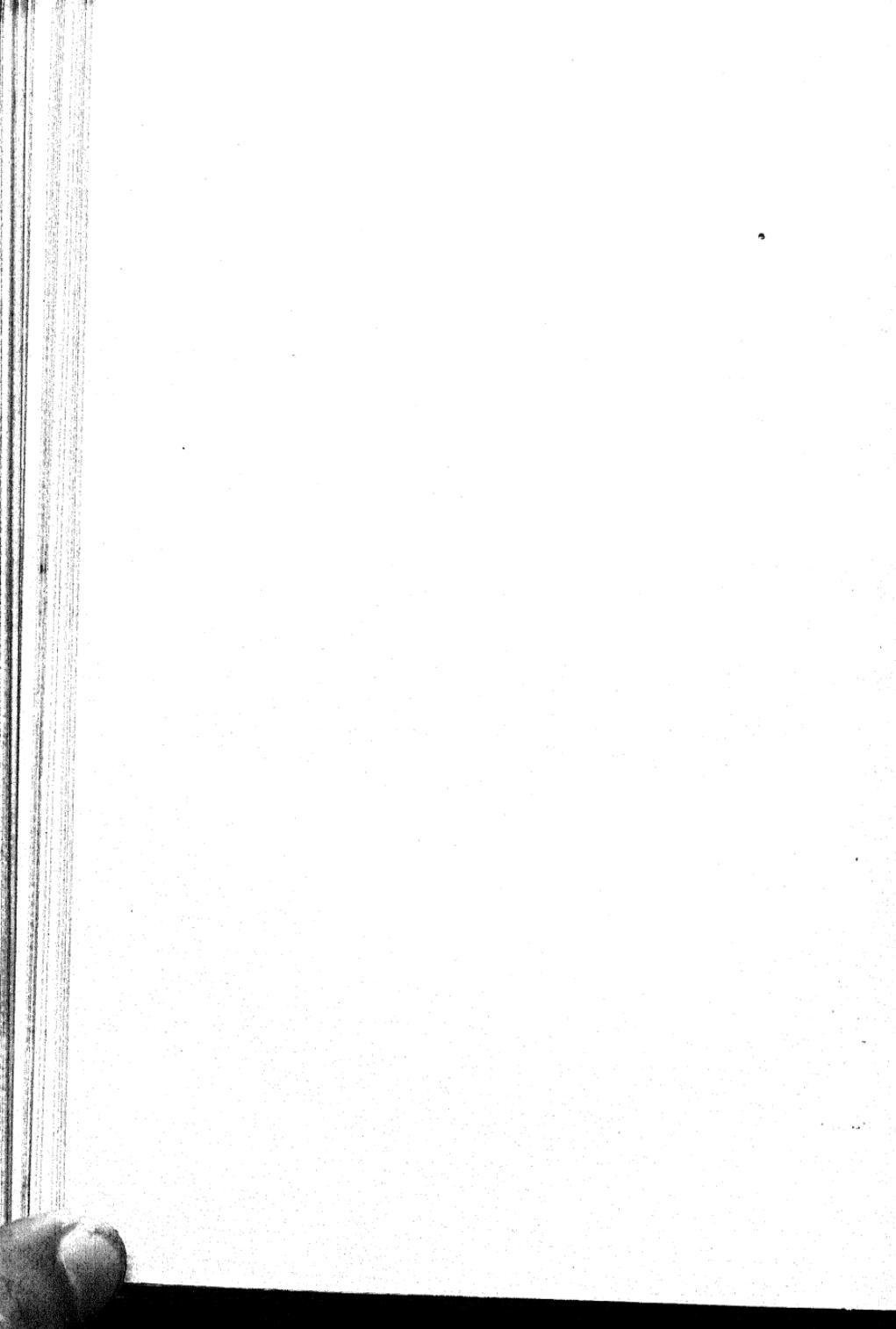
यह है मेरे दिल की भभकती आग ! यही है, मेरे कलेजे को जलानेवाली भट्टी ! छोकड़ी ! ले तू अपने कर्मों का फल ! तू भी क्या जानेगी कि एक रायबहादुर और एक......के दुतकारने का क्या नतीजा होता है ! तेरी तो कुतिया की-सी मौत होगी, और मैं आँखें पसारकर निहारूंगा और उस दिन बाग-बाग होऊँगा ।

मित्रवर, अब मुझे विशेष कुछ भी नहीं कहना है, है न आपके मन के मुताबिक काम ? तो फिर अब देर करने की जरूरत ! क्या मैं आशा करूँ कि आज रात को एक बजे मेरे बगले पर...... । मैं बहुत ही एहसानमंद होऊँगा ।

आपका विश्वासी और सच्चा दोस्त—

नर्मदाशंकर

मेरी कुंदन,

मेरे इसके पहिलेवाले ख़त से तू जरूर घबड़ाई होगी। क्या हालत होगी तेरी, मैं नहीं कह सकती। जब कि मेरा ही दिल जो कई बार मुसीबतों का सामना कर चुका है, घबड़ा रहा है; तब वह दिल, जिसमें दुःख-दर्द की हवा तक नहीं लगी है, कितना बेज़ार होगा, कितनी उसासें भरता होगा—मैं नहीं कह सकती। सचमुच यह मेरा गुनाह था! मैंने बे-जाने अपना सारा अहवाल तेरे सामने पेश किया था; पर, नहीं, मैं इसकी कुसूरवार नहीं। सबब है—जब यह दिल ही तेरा हो गया है; तब मैं तेरी चीज़ को—तेरे धरोहर को—रख ही कैसे अपने पास सकती थी! आह, उस दिन अंमा के चले जाने पर मैं भी क्यों न तेरे पास चली गई! यदि मैं उस दिन चली ही गई होती, तो यह हालत ही मेरी क्यों होती! क्यों मुझे बाज़ारू औरत समझकर मेरे बेशकीमती सौदे को—ठीकरे के मूल्य में कोई ख़रीदने के लिये आता। मगर, मैं जा भी कैसे सकती थी! उनके 'दर्शन' मुझे कैसे सुलभ हो सकते थे! हाय, यह प्रेम-पथ कितना निराला है, कितना जहरीला है! दूसरे क्यों जलने-कटने लगते हैं? क्यों दूसरों को दो प्रेमियों का प्रेम-संगीत नहीं सुहाता?

यह है उन मर्दुओं के दिल का जनाजा, जो प्रेम को एक खिलौना समझ बैठे हैं—जो प्रेम को ठीकरों से खरीदना चाहते हैं ! कैसे हैं अहमक ! अक्ल के दुश्मन !

मैं उसी दिन, उसी रात को, सदा के लिये नूरे-महल को, नहीं दोज़ख की भट्ठी को छोड़ आई। उफ़ कैसी भयंकर रात थी ! कैसा अँधेरा था ! संसार सुख का स्वप्न देख रहा था और मैं संसार को ही स्वप्न-सा समझ अपने भविष्य-जीवन की आलोचना करने में लगी थी ! मैं साहसकर—हिम्मत बाँधकर कुछ जरूरी चीजों के साथ घर में ताला डालकर चल पड़ी। उस समय शायद एक या दो बजे थे मैं निकल पड़ी, भगवान पर ही एक भरोसा रखकर दिल को यद्यपि मजबूत बना-लिया था, फिर भी तो औरतों का ही दिल ठहरा। आखिर, चल ही पड़ी। उस समय मेरी दशा उस चोर की सी थी, जिसने किसी की हत्याकर संपत्ति हर ली हो। मैं चकित थी—भीत थी, नये पथ पर जा रही थी, खतरे थे, संदेह था, फिर भी मैं जा रही थी ! एक ओर पुलिस गस्त लगा रही थी और दूसरी ओर मैं कड़ा दिल किए जा रही थी। आखिर मेरा बच ही क्या गया था, जो लुट जाता ? लुटनेवाली चीज़ तो लुट ही चुकी थी, इसीलिये तो मैं कुछ निर्भय थी—चुपचाप जा रही थी। मैंने सोच लिया था—यदि कोई पूछेगा

कि मैं कौन हूँ, कहाँ जा रही हूँ—तो यही कहूँगी—कि डाइन हूँ—चुड़ैल हूँ, और मसान मेरा घर है, मैं वहीं जा रही हूँ। मगर, ईश्वर की कृपा थी, कहीं कोई न मिला, फिर मुझसे पूछता ही कौन? हाँ रह-रहकर मेरा दिल मुझसे पूछ बैठता—'यदि वे तुझे व्यभिचारिणी समझकर अंगीकार न करें, तब?' इसके उत्तर में मेरी अंतरात्मा बोल उठती 'तो क्या? आखिर गंगा की गोद तो स्त्रियों के लिये है न! वहीं उनके नाम को अपना संबल बनाकर चली जाऊँगी।' उसी विचार ने मेरे निर्बल हृदय में बल का संचार कर दिया, इसी के बल पर मैंने किसी की परवाह नहीं की।

मैंने एक दिन बातों-ही बातों में उनके निवास-स्थान का पता लगा लिया था। शायद उन्हें इसका स्मरण होगा या नहीं, मैं नहीं कह सकती। पर, मुझे तो इसी का सहारा था। फिर भी डरती थी—कहीं उन्होंने, इसी बीच में, डेरा तो नहीं बदल डाला होगा! पर, मैं तो सदा 'ब्राइट साइड' (Bright side) ही देखा करती हूँ, फिर 'डार्क साइड' (Dark side) क्यों देखने लगती? मैंने सोचा—पहिले वहीं चलना चाहिए। यदि न मिलेंगे तो फिर......। अच्छा, देखा जायगा। 'इरादा पक्का था, मैं उनके बताए डेरे पर पहुँच गई। छोटा-सा बँगला था, ख़ूब सुंदर, साफ़-सुथरा और ख़ूब हवादार! सामने एक छोटी

सी फुलवारी और चारो तरफ फेंसी छड़ों से कंपाउंड घिरा हुआ था। मैं वहाँ पहुँचकर धीरे-धीरे कंपाउंड पार कर गई, फुलवारी में पहुँची, बरामदे पर चढ़ी; अब तो हिम्मत हार गई, कोई उपाय ही नहीं दीख पड़ा। दरवाजे बंद थे—हाँ, खिड़कियाँ खुली थीं। मैं घंटों वहीं खड़ी-खड़ी सोचती रही। आह! इसी समय एक दूसरी आफत खड़ी हुई। जोर की हवा बह निकली, पानी भी बरसना प्रारंभ हुआ। हवा के झोंके से खिड़कियाँ आपस में टकराने लगीं, उस हवा में पानी के शीतल कण थे। बड़ी ठंडी हवा थी। मैं बाहर ठिठुर रही थी, वे भी भीतर थरथरा रहे थे। इसीलिये, शायद, उनकी आँखें खुल गईं, नींद टूटी और उठकर खड़ाऊँ खटखटाते दरवाजा खोल बाहर आए। मैं एक कोने में दबकी पड़ी थी! उन्होंने इधर-उधर आँखें दौड़ाईं, फिर भी शायद मैं उनकी नज़रों में पहले-पहले न पड़ सकी। कारण था, रात भयंकर अंधकार-पूर्ण थी। वे तुरत भीतर चले गए। मेरी आशा टूट गई। मैंने चाहा था—उन्हें पुकारूँ, पर कहाँ थी मुझमें हिम्मत! इतने ही में उन्होंने बिजली का बटन दबाया, कमरा जगमगा उठा। शायद वे कुछ लिखने-पढ़ने की बात सोचकर टेबुल के निकट कुर्सी पर बैठ गए। पर, कुछ ही देर बाद उठे और भीतर से खिड़कियाँ बंद करने लगे। मैंने यही अवसर देखा,

और ठीक खिड़की के पास जाकर बोल उठी—'धीरेन बाबू !'
उन्होंने मेरी ओर देखा।

ओह ! वह कैसा समय था ! कितना भयंकर ! कैसा प्रलयंकर ! मेरी आवाज़ सुनकर वे चौंके। उन्होंने मेरी ओर नजरें फेरीं, देखा, पर शायद उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने उन्हें स्तंभित देखकर फिर से कहा—'आप क्यों घबड़ा रहे हैं, मैं हूँ आपकी सुधामयी।' इसी समय शायद उन्हें चेतना हुई, उन्होंने चकित होकर कहा—'सुधा ! ओ सुधा ! तुम यहाँ कैसे ? क्यों ? इतनी रात को ?'

'मेरी तक़दीर ही ऐसी है'—मैंने कहा। मेरी आँखों में गंगा-जमुना की धाराएँ बह निकलीं।

'ओह ! भीतर आओ, भीतर ! कब से बाहर खड़ी थीं ? कब आईं ? आना ही था तो पहले मुझे खबर क्यों न दी ? इतनी रात को कैसे आईं ?'

एक ही साथ कितने प्रश्न कर डाले—मैं क्या उत्तर देती। फिर वे दरवाजा खोल बाहर आए और मेरी बाँह पकड़कर भीतर लिवा गए। कुछ क्षण तक तो किसी के मुख से एक शब्द भी न निकला। दोनों अवाक् थे। वह समय कितना करुणोत्पादक था, कुंदन ! आह !......।

आगत-स्वागत होने के बाद मैंने एक-एककर सभी

घटनाएँ कह डालीं। वे सुनकर स्तंभित हो गए सुनते-सुनते उनका चेहरा तमतमा उठा, रोष से ओंठ फड़कने लगे, लंबी साँसें निकलने लगीं, नथुने फूलने लगे। क्रोध से वह कलित कलेवर कितना भयंकर हो उठा था! कितना प्रलयंकर! आह! कैसी थी उनकी भैरवी मूर्ति! सच कहती हूँ, कुंदन, मैं स्वयं डर गई। यदि उस समय दुश्मन पास होता, तो बिना हत्या किए वे चूक नहीं सकते थे! आखिर, वे बोल उठे—'अच्छा! घबड़ाने की बात नहीं, सुधा! तुम्हारे अपमान का बदला उसे परमात्मा देगा। ख़ैर, तुम बच निकलीं—यही बहुत है।'

इसी समय लटकती हुई दीवाल-घड़ी से 'तीन' की आवाज आई। वे बिछावन से उठे और बगलवाले दूसरे कमरे में एक दरी और तकिया रख आए। उन्होंने मुझसे कहा—'अब सो रहो, सुधा! चिंता की कोई बात नहीं! मैं तुम्हारी विपद झेल लूँगा खुशी से, पर तुमपर आँच न आने दूँगा। अच्छा, बातें तो फिर होती ही रहेंगी। अभी तुम थकी-माँदी हो, परेशान हो, निश्चिंत होकर सो रहो! सो रहो! सुधा!'

'न—नहीं। आज मैं न सोऊँगी! आज मुझे नींद न आएगी।'—मैंने लज्जित होकर कहा।

'तो क्या मैं नींद बुला दूँ?'—उन्होंने मुसकुराते हुए कहा।

'क्या नींद किसी के बुलाने से आती है?'

'अहा ! क्या तुमने नींद बुलाते हुए नहीं देखा है ?'

यह कहकर वे हँस पड़े। मैं लजा ही रही थी कि इतने में उन्होंने मुझे अपनी ओर खींच लिया और मेरे गालों पर......। आह ! कैसा वह स्पर्श था ! कैसी मदिरा थी ! कैसा नशा था उसमें !

कुछ ही क्षणों के बाद वे बिछावन से उठ गए और फिर से मुझे सोने को कहकर दूसरे कमरे की ओर बढ़ने लगे। मैंने जाते समय कहा—'कहाँ जा रहे हैं आप, यहीं तशरीफ़ रखें, और मैं वहाँ......।'

'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। तुम यहीं सोओ।'—उन्होंने कहा।

'तो, ऐसा भी नहीं हो सकता !'—मैंने दृढ़ होकर किंतु हँसते हुए कहा।

'नहीं, सुधा ! जिद न करो, सो रहो।'

मैं उठकर खड़ी हुई, मैंने जाने के लिये पैर बढ़ाया, पर उन्होंने फुर्ती से दूसरे कमरे में जाकर दरवाजा बंद कर दिया मैं धक्के देती रही, पर वे क्यों मानें ! मैंने कितना कहा, कितनी मिन्नतें कीं, पर उस हठीले ने एक न सुनी। आखिर, मैं कहना चाहती थी—'यहीं एक ही बिछावन पर तुम भी क्यों नहीं सो रहते ?' पर मुँह से ऐसा निकल न सका, न जाने क्यों !

मैं क्या करती ? अंत में मैं वहीं—उन्हीं के बिछावन पर सुख की निद्रा में निमग्न हो गई ।

× × × ×

वे काम के समय काम पर जाते, मैं पर्दानशीन औरतों-सी अपने कमरे से बाहर तक न निकलती, किंतु वहाँ रहना उनके लिये बड़ा भयंकर था। क्योंकि, उन्हें पता लग गया था कि मेरी अंमा ने पुलिस को यह ख़बर दे दी है। और पुलिस-वाले 'उन्हें' ही इसका दोषी समझ रहे हैं । इसीलिये, मैं पाँच-छः दिनों के बाद वहाँ से हटा दी गई। पर, भगवान की कृपा है, जहाँ उन्होंने मुझे रखवा दिया है, वह 'मातृ-मंदिर' है। जहाँ मुझ-सी कई बहनें रहती हैं—शांतिमय जीवन बिताती हैं।

जो हो, अब देखती हूँ, उनका जीवन विपद से खाली नहीं। हो सकता है, मेरी जान का दुश्मन उनसे बदला चुकाने के लिये कोई और चाल न चल बैठे ! हाय ! मेरे रहते-रहते उनकी कौन-सी दशा होगी, भगवान ही जानें। कुंदन, मैं सच कहती हूँ—मूक-वेदना हृदय में शूल पैदा करती है। यद्यपि मैं यहाँ प्रत्यक्ष रो नहीं सकती, फिर भी मेरी करुण आत्मा सदा अपनी संतप्त वेदना से संक्षुब्ध रहा ही करती है ! आह, हृदय में हाहाकार है ! मस्तिष्क में तूफ़ान मचा हुआ है। कलेजे में कसक है—चोट है, घाव है, मर्मांतक पीड़ा है ! हाय ! क्या
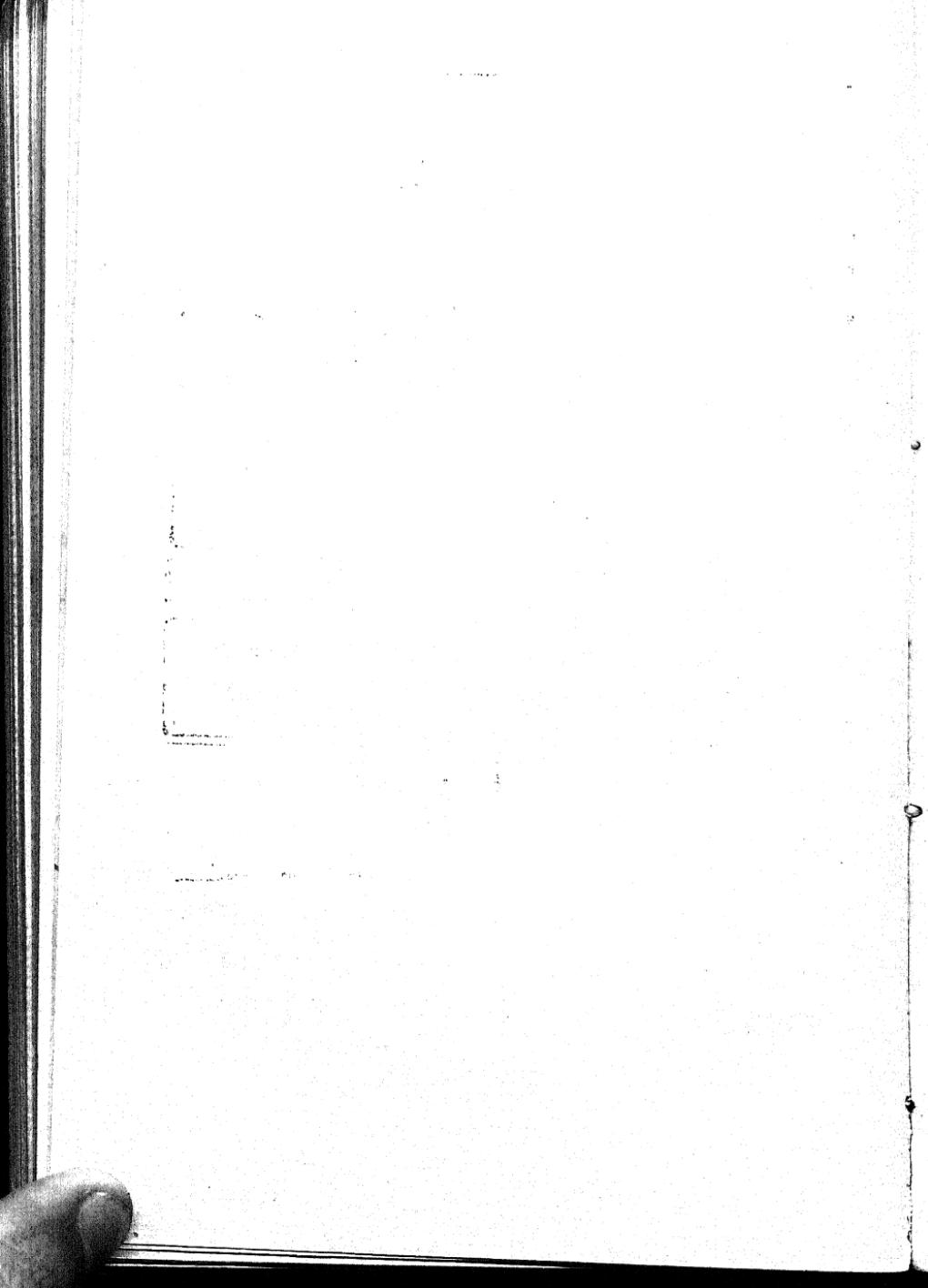
से क्या हो गया ? अपराधिनी मैं हूँ—नहीं, मेरा विषाक्त रूप है—सौंदर्य है। हाय री रूप-ज्वाला ! इसी ने मेरी यह दशा कर दी है, और न जानें, कितनी बहिनें इसी कारण अपने सतीत्व का बलिदान करती हैं ! हाय रे मतवाला यौवन !

तू सुख से रह भगवान तेरी मुराद पूरी करें। तेरा स्नेह-पत्र पाने को हृदय उद्विग्न है। आँखें लगी हैं; पर, और बहनें कहती हैं—डिटेक्टिव लगे हुए हैं, कहीं से तुम्हें पत्र-व्यवहार न करना होगा। शायद तेरे पत्र से वे कहीं पकड़े न जाएँ। जाने दो इस संतप्त अभिलाषा को ! हृदय ही तेरा जब मेरे पास है, तो फिर पत्र की क्या आवश्यकता ? यह तो केवल बाहरी दिखावट है न ! अच्छा, कुंदन ! फिर कभी अवसर मिलने पर। नहीं तो इतना ही !

मेरा प्यार—लाख-लाख प्यार ! क्या तेरे अधर का चुंबन मुझे कभी नसीब न होगा, कुंदन !

तुम्हारी अभागिनी—

हसीना

मेरे कृष्ण,

मुझे पत्र भेजने में फिर भी विलंब हुआ—इसका मुझे आंतरिक दुःख है। तुम समझते होगे—मैं प्रेम-जाल में आबद्ध होकर......। चाहे जो समझो, भाई! पर, हृदय ही जानता है, मैं कैसी आपत्तियों में आ फँसा हूँ। आह! आज यदि तुम यहाँ होते, मेरे भैया! एक ओर करुणा, स्नेह, विरह, व्याकुलता, विषाद और व्यथा का मर्मभेदी दृश्य है, और दूसरी ओर पाशविकता, तांडव-नृत्य, धोखा, छल, उत्पात और नरक की खाईं में डालने का आयोजन! मैं इसी संघर्ष में अचल-सा अटल खड़ा हूँ। एक ओर कर्तव्य बाध्यकर साहस का संचार कर रहा है और दूसरी ओर अपने सामने—आँखों के समक्ष—विपत्तियों का उमड़ा हुआ समुद्र लहरा रहा है! जिस-से मेरी रही-सही बुद्धि पर भी पानी पड़ रहा है और मेरी गति ठीक उस नाविक के समान होती जा रही है, जिसकी क्षुद्र नौका आवर्त में पड़कर जल-मग्न होना ही चाहती हो। हाय री विधि-विडंबना! तेरा यह प्रलयंकर रूप!

गत सप्ताह की बात है—मेरी कर्तव्य-विधायिनी सुधामयी क्रूर-काल के कठोर पदों से कुचली जाकर अंधकारमयी रजनी में अकेली ही मेरी शरण में आ गई। ओह! कैसा करुणा-

पूर्ण दृश्य था वह ! कैसी दर्दभरी उसकी तसवीर थी ! व्याकुल होकर—बेचैन होकर, अपने निजत्व को खोकर मेरी खोज में आ पहुँची। मैं निशीथ की मधुर मंजुल गोद में विश्राम कर रहा था। पानी बरस रहा था, पवन प्रचंडता से बह रहा था। उसी समय हरिणी-सी चंचल—हृदय के भार से दबी आ पहुँची। अचानक; मेरी निद्रा भंग हुई, कानों में किसी के रोने-सिसकने की करुणापूर्ण ध्वनि सुन पड़ी। मैं उठ बैठा, और बाहर की ओर आकर देखा—बरामदे पर सुकुमार कलिका एक ओर पड़ी थी। मैं भीतर आया, बिजली का बटन दबाया, कुछ चिंता करने लगा। मुझे बोध हुआ—शायद, आँखों का धोखा था वह ! पर कान मुझे सचेत कर रहे थे—नहीं, कोई अवश्य है। मैं अकेला था, और यह घटना भी पहले-पहल की ! मैंने चाहा—खिड़कियाँ बंद कर लूं, और लगा भी बंद करने ! उसी समय खिड़की के पास प्रकाश में जो कुछ देखा—आँखों को भ्रम-सा दीख पड़ा। मैं कुछ पूछना ही चाहता था कि वही बोल उठीं—'धीरेन बाबू !' मैं सच कहता हूँ, भैया ! कानों को पहले तो विश्वास ही न हुआ। फिर भी मैंने ध्यान-पूर्वक देखा। हाय ! 'सुधामयी' आज पहिचानी भी नहीं जाती ! आह ! उसका ऐसा हृदय-द्रावक दृश्य ! मैंने उसे भीतर लाकर कपड़े बदलवाए, धैर्य और साहस प्रदान किया। कुशल-प्रश्न

किया ! आखिर, उससे जो-कुछ मुझे पता लगा, उससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान भी कितने अविवेकी हैं ? वह कैसा ऊटपटाँग खेल खेला करते हैं ? क्या उनपर विश्वास करनेवाला सदैव धोखा ही खाता है ? क्या इसी में उनका ईश्वरत्व है ? आह, क्या कहूँ, भैया ! उस बेचारी अबोध बच्ची पर कौन-कौन-सी मुसीबतें नहीं आइ ! क्या स्वजन भी पराए हो जाते हैं ? इसके पहले तो इसके जानने का अवसर ही न आया था !

कुछ दिनों तक मैंने उसे अपने यहाँ ही रखा। पर, मैं अपने पास रख हो कैसे सकता था ? जहाँ चारो ओर से पुलिस की कड़ी दृष्टि मुझपर है, जहाँ हर घड़ी संदेह बना रहता है कि न जाने मैं कब उसके हाथों का शिकार बन जाऊँ, वहाँ, वैसी दशा में, उसे अपने पास रखना उसके लिये निरापद न जान पड़ा। अंत में, मैंने परसों 'मातृ-मंदिर' में जाकर पाणि-ग्रहण कर लिया उसका, और उसे वहीं, कुछ दिनों के लिये निरापद रखना मैंने श्रेयस्कर समझा। अंत में, वह मेरी हो ही गई और मैं उसका। अब मुझपर जो-जो अत्याचार हों, जिन-जिन मुसीबतों का सामना करना पड़े—दिल तैयार है, दिमाग़ तैयार है। मैं सभी कुछ खुशी से सह लूँगा, पर उसको अपने हृदय से पृथक् नहीं कर सकता। अहा ! कैसा है उसका अन्यतम स्वार्थ-त्याग ! निजत्व को खोकर किसी पर अपने को

समर्पित कर देना ? क्या यह उच्च आदर्श कहीं दिखाई पड़ता है ? यह है नारि-हृदय का उच्चतम अवर्णनीय आदर्श ! यह है सुकुमार-मति कन्या का पुनीत प्राणोत्सर्ग !

इतने ही से मैं मुक्त नहीं हो सका। एक विपत्ति टली तो दूसरी, तीसरी न जाने कितनी और सिर पर तैयार ! पर, विपत्ति से विपत्तियों का शमन होता है, इतना मैं जानता हूँ। इसीलिये तो मैं एक-एक विपद् को टालने में समर्थ हो सका !

अच्छा, सुनो—वे कौन-सी विपत्तियाँ हैं। उसकी माँ ने यह कहकर नालिश कर दी है कि—'···प्रोफेसर ने मेरी लड़की को गुम कर दिया है।' पुलिस तहकीक़ात में आई थी, पर, उसका पता न पाने पर मुझपर संगीन मुक़दमा चलाया गया है। इतने ही से विपत्ति का अंत नहीं हुआ, दूसरा मुक़दमा सिर पर। 'अपने छात्र-समूह में राज-विद्रोहात्मक भाव का मैं प्रसार कर रहा हूँ।' तीसरे 'मैं···षड़यंत्र का नायक हूँ। बोल-शेविज़्म और राजसत्तात्मक नीति का प्रचारक हूँ।' तीनों केस दायर हैं। इधर कालेज के अधिकारी-गण भी मेरा साथ देना छोड़ बैठे। मैं चारो ओर से जकड़ गया हूँ। पुलिस ने अपनी ओर से गवाहों को ठीक कर लिया है। मैं कल से जेल में डाल दिया जाऊँगा। न जानें, इन मुकदमों की सुनवाई कब तक चलती रहें ! मैं अब इनसे बच नहीं सकता और न मैं

बचने की चेष्टा ही करूँगा।

ओह! 'सुधामयी' को जब से इसका पता लगा है, मैं नहीं कह सकता उसकी क्या दशा हो रही है। कितना वह अपने को कोसती—धिक्कारती है। कितने आँसू बहाती है, है, कितना रोती—सिसकती है। मैं आज उससे मिलकर आ रहा हूँ। कितना धीरज बँधाया, कितनी सांत्वना दी, पर, फिर भी नारि-हृदय ही ठहरा! आह, कैसी उसपर बीत रही उसके शरीर की वह चम्पक-आभा कहाँ विलीन हो गई!

भाई, मेरे लिये दुख की कोई बात नहीं। मैंने मनुष्योचित कर्तव्य ही किया है। इसका मुझे गौरव है, पर खेद है कि मैं अब तक देश की कुछ भी सेवा न कर सका। यही तो मुझे सेवा का अवसर प्राप्त हुआ था! अच्छा, यदि मुझसे पहले कुछ भी सेवा न बन पड़ी थी तो अब तो होगी! मैं शहीद होकर अपनी जननी-जन्मभूमि की प्यास तो कुछ बुझा सकूँगा। मुझे वह दिन कब प्राप्त होगा, जब मैं माँ की बलि-वेदी पर बलिदान के लिये चढ़ सकूँगा। वह मंगलप्रभात कितना सुखकर होगा, कितना स्वर्णमय!

पूज्य-चरण माता-पिता इस अघट-घटना को सुनकर कितने संक्षुब्ध होंगे—कितने दुखी होंगे! हाय! मुझे खेद है कि मैं उनकी कुछ भी सेवा न कर सका। पर, संतोष है,

—अपनी मृत्यु से। एक माता-पिता नहीं, अनेक माता-पिता के पवित्र-हृदयों को शीतल कर सकूँगा। उनके शरीर की नहीं, उनकी आत्मा—अमर आत्मा का कितना मैं कल्याण कर सकूँगा?

एक प्रार्थना तुमसे भी है,—वृद्धा माता-पिता की सेवा करना, उनके आँसुओं को पोंछना, समझाना, धीरज बँधाना और हो सके तो श्रीमती 'सुधामयी' की भी कभी-कभी खबर लेना। क्या मेरे नाते, इतना भी नहीं कर सकोगे, भैया!

शायद तुम्हारा पत्र मुझे प्राप्त न हो सके! पर, एक बार आकर सुधामयी की देख-रेख तो कर जाना। मेरी आत्मा इतने ही से प्रसन्न रहेगी। मैं इतने ही से अपने को धन्य समझूँगा। हाँ, सच जानना।

मेरी स्नेहशीला भाभी से मेरा प्रणाम निवेदन करना। मेरे वियोग से उन्हें जो दुख होगा, उसे दूर करना। हाय! प्यारे लल्लन और बच्चन को क्या मैं फिर कभी देख सकूँगा? अहा, उसकी वह मधुर मुसकान मुझे अभी तक याद है! उसी स्मृति को मैं धरोहर की नाईं अपने अंतस्तल में छिपाकर अभी प्रसन्न हूँ और आगे भी रहूँगा। मेरी ओर से दोनों को एक बार चूम लेना भैया!

तुम्हारा बिछुड़ा हुआ—

धीरू।
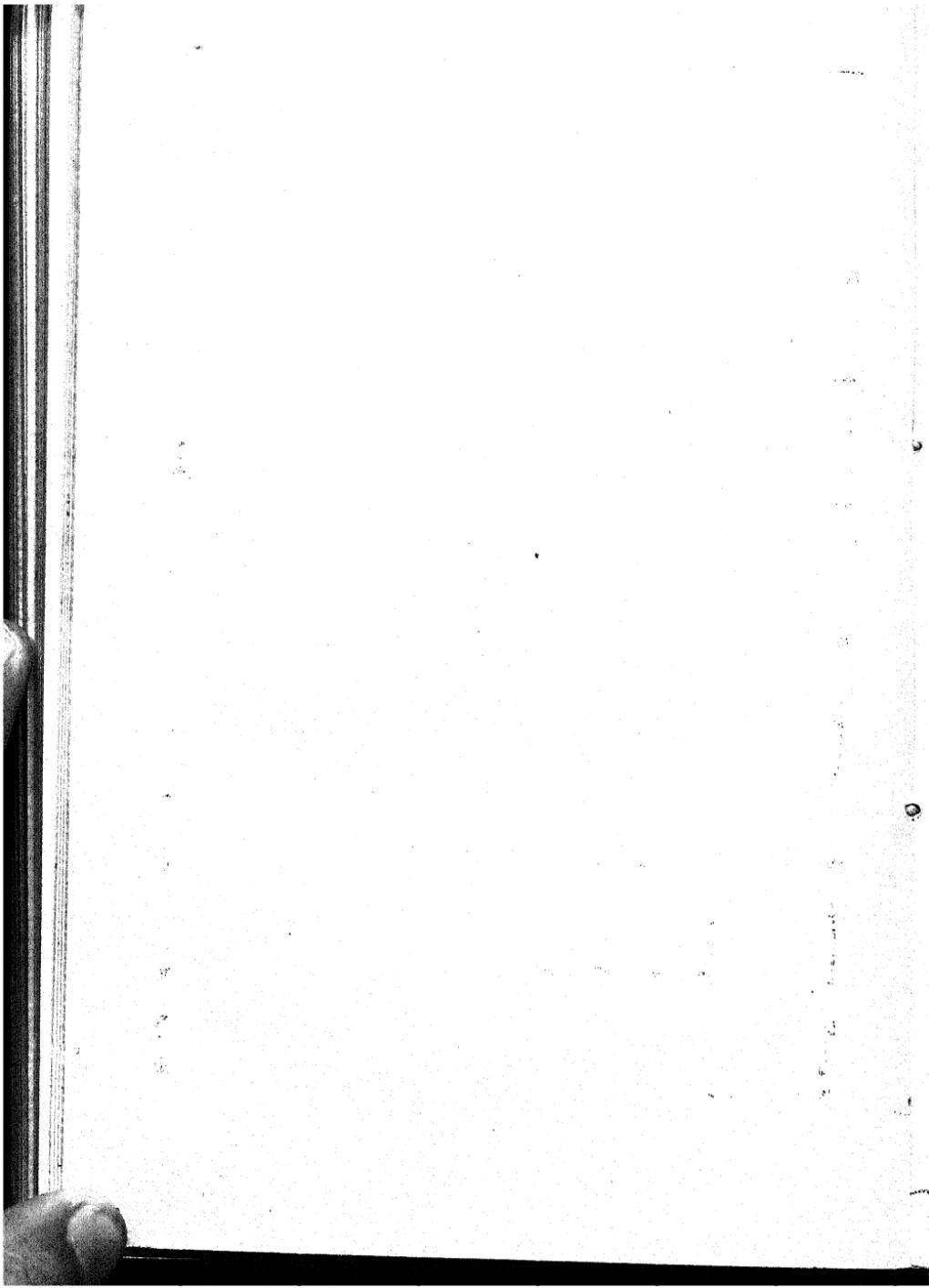
पत्र-१५

Ray Bahadur Narmada Shankar

M. A. L. LB., M. L. C.

Benares.

मेरे प्यारे रायबहादुर,

देखी आपने पुलिसवालों की करतूत ! भला हमलोगों के जाल से कोई बच ही कैसे सकता है ? सच को झूठ और झूठ को सच करना तो हमलोगों के बाएँ हाथ का खेल ठहरा। मगर, इस केस में कम मुसीबतें नहीं उठानी पड़ीं, मुझे यक़ीन न था, मगर खुदाने लाज रख ली, नहीं तो सच कहता हूँ, आपके सामने मैं मुँह दिखलाने के लायक़ ही न रहता। मैं आपको वचन दे चुका था, अगर मैं इसे पूरा करके न दिखला सकता, तो, या तो मैं जान पर खेल जाता, या नौकरी से ही इस्तीफ़ा दे देता।

मगर, भई, उस छोकड़ी ने हमलोगों को ख़ूब छकाया। उसकी अंमा भी उससे कुछ कम न छकी। मैं तो समझता था कि पहिलेवाले मुक़दमे में उसे और उसके चाहनेवाले को बड़े घर की, बहुत दिनों के लिये हवा खिलाता। मगर, ऐसा न हो सका। उसने खुले इजलास में क़ुबूल कर लिया कि मि० वर्मा ने न मुझे फुसलाया और न बहकाकर निकाला ही। बल्कि इन्हीं ने मेरे सतीत्व की रक्षा की है, मुझे धर्म-भ्रष्ट होने से बचाया है, और मैंने इनके सच्चे गुणों पर रीझकर इन्हें वरण कर लिया है। इसे उसने इतनी करुणा और मार्मिकता से कहा कि सेशन जज ने मुक़दमा ख़ारिज कर दिया। उस दिन मैं कितना शर्मिंदा

था ! उस दिन तो मुझे यही मालूम हो रहा था कि पबलिक की आँखों में पुलिस का स्थान कितना हेय है—नीचा है । ओह ! पुलिस ! और वह छक जाय एक औरत से ! महज़ छोकड़ी से !

मगर, मेरे दोस्त, पुलिस भला छकनेवाली कब ठहरी ! उसका भेद जब उसका जन्म-दाता पिता नहीं जान सकता, तो दूसरे की क्या बिसात ! क्या खाकर कोई उसके भेदों का पता लगा सकता है ! इसपर भी जहाँ, आप ऐसे मददगार हों—पीठ पर ! मैं निःसंकोच कहूँगा कि उसके फँसाने में जितना हाथ हम लोगों का नहीं, आपका है । यदि आपने इस तरह से सहायता न दी होती, इस तरह से झूठे गवाह न तैयार किए होते, तो यह कामयाबी हो सकती या नहीं, संदेह ही था ।

मैं उसी दिन से, जब से उस छोकड़ी ने हमलोगों को छकाया, इस धुन में रहने लगा कि किस तरह उसपर दूसरा कोई 'सिडिसस चार्ज' लगाया जाय । समय अनुकूल था, इधर जान की बाजी थी ! असल में, ईश्वर को हमलोगों की लाज रखनी थी । मैंने जाल बिछाना शुरू किया ! अपना वेश बदलकर मैंने युनिवर्सिटी में नाम लिखाया, और मैं भी उसके पॉलिटिक्स क्लास में पढ़ने लगा । मैं पढ़ता क्या ? मैं तो यह पता लगा रहा था कि मिस्टर वर्मा के विचार कैसे हैं ? देश के प्रति भाव कैसे हैं, हृदय की उमगें कैसी हैं ? साथ ही, अपने

सहपाठियों से हिलमिलकर, बहुत सी पार्टियाँ देकर उनके विचारों का पता लगाने लगा। भला, नये दिल के उमंग-भरे कालेज के मनचले युवक मेरी अँतड़ी का पता ही क्या लगा सकते। एक-एककर भेद खुलता गया, प्रोफेसर के व्याख्यान को हू-बहू मैं नक़ल करता, उनसे मैं नम्र होकर मिलता, वे भी मुझपर विश्वास करके अपना हृदय मेरे सामने रखते! इतना ही नहीं, भला मैं इतने ही से कैसे संतोष करता। मैं लगे हाथों......षड़यंत्र के विषय में उनसे बातें! करता, उत्तेजना देता, और बतलाता कि देश के लिये उसकी कितनी आवश्यकता है। मैंने प्रार्थना की कि, इसके नेतृत्व को आप कुबूल करें। हम लोग आपके आदेशानुसार इसमें काम करने को तैयार हैं। मैं नहीं कह सकता, यह सचमुच, मेरे बहकाने का प्रभाव था या उनका पुराना विचार ही ऐसा था! मगर, इतना तो मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि यदि उनका निजी विचार ऐसा न होता, तो मैं कदापि इतनी सफलता न प्राप्त कर सकता। वह युवक है, मगर फिर भी गंभीर है, हठात् कोई काम नहीं कर बैठता, करने के पहिले उसका स्वयं विचार कर लिया करता है। उसपर मेरी विजय हो ही गई। मैंने उसके नाम से लाल चिट्ठियाँ छपवाईं—बटवाईं......। रायबहादुर! इसके बाद क्या हुआ,
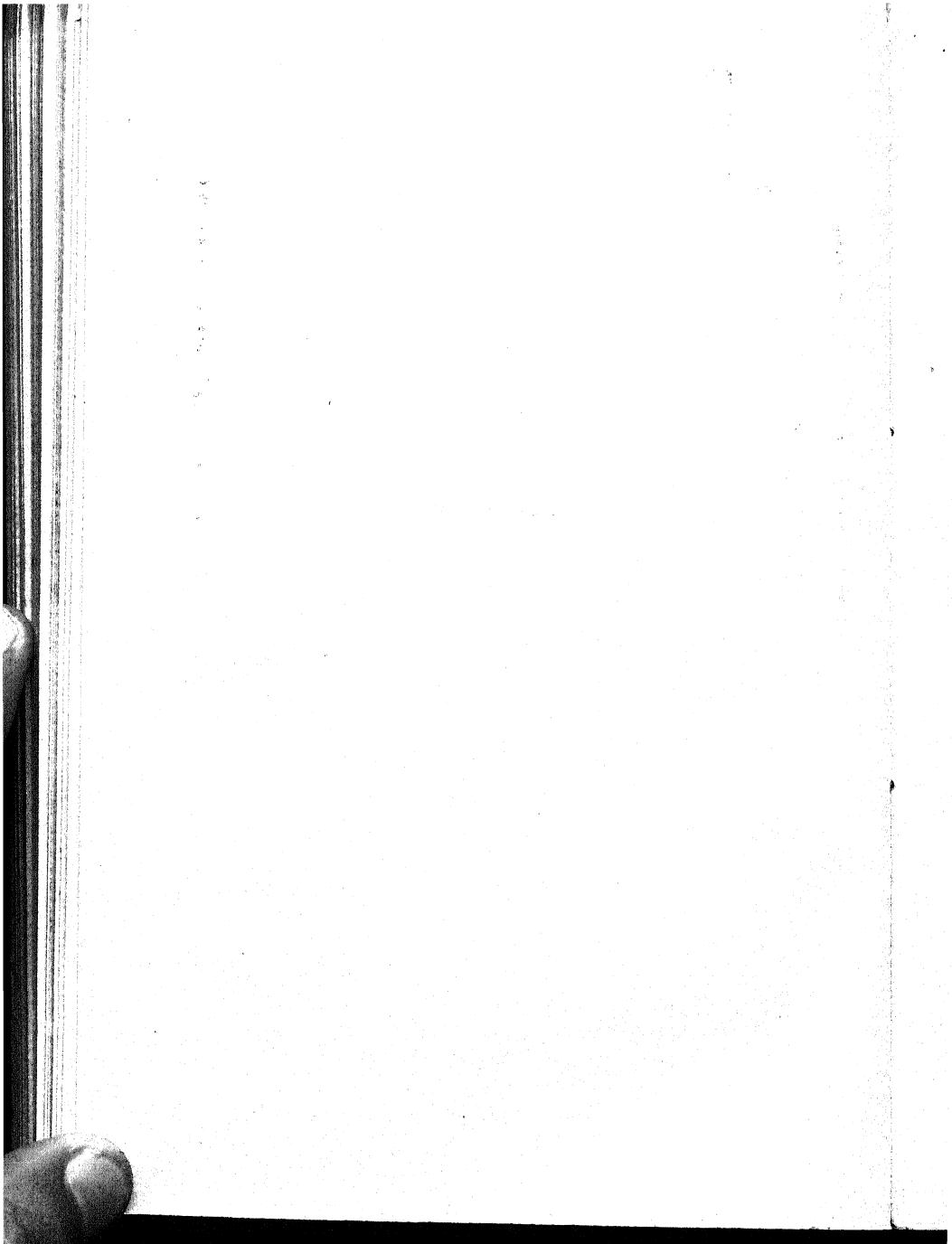
यह तो आप जानते ही हैं। कल उस मुक़द्दमें का फ़ैसला था, मैं आपके बँगले पर गया था; गया था इसलिये कि, मैं आपको अपने मुँह से यह खुश-ख़बरी सुनाऊँ। मगर, दिल की यह मुराद पूरी न हुई। न जाने अब आप शिमले में क्या कर रहे हैं। क्या वहाँ किसी अँगरेज गोरी से……। अच्छा, इसीलिये, यही खुश-ख़बरी सुनाने के लिये, मैं वहीं ख़त भेज रहा हूँ। मगर, यार, पूरी दावतें देनी होंगी, हाँ, मुँह-माँगी! कुछ 'बॉल डांस' का भी प्रबंध करना होगा! आखिर, जिंदगी की बहार भी तो यही है न!

मगर, तरस आती है मिस्टर वर्मा पर! कितना सीधा, कितना सरल, कितना मधुर-भाषी था। पर, जज ने 'फाइनल' सुना दिया, और अब उसकी फरियाद भी कहीं सुनी नहीं जा सकती। १० वीं सितंबर को उसकी फाँसी! ओह, भयंकर फाँसी! और, जिसका सूत्रधार है, मुझ-सा अभागा भारतीय! इससे रंज न मानना, रायबहादुर! आख़िर दिल ही तो है! कुछ दिन तक उसकी छाया तो मुझपर पड़ी ही है।

क्या मैं उस दिन की प्रतीक्षा में रहूँ, जब आप यहाँ आकर………। कितना सुखी हूँगा उस दिन!

आपका—

सकलतवाला

पत्र—१६

मिसकुंदन

१५१, सोनागाछी,

कलकत्ता ।

मेरी आँखों की पुतली,

आह ! भाग्य फूट गया ! मैं कैसे लिखूँ, क्या लिखूँ, कुंदन, हृदय था, आज वह भी टूक-टूक हो गया। आँखों से अजस्र आँसू बह रहे हैं, मैं उनकी बाढ़ को रोक नहीं सकती। हाय, उसके रोकने का साधन ही मेरे पास क्या रह गया ! हाय, नृशंस मानव-समाज ने आज मेरे उदय होते हुए सौभाग्य को, छलकते हुए प्रेम को, उभड़ते हुए यौवन को, एक ही साथ, न जाने किन प्रलयंकर हाथों से मसल डाला ! आह, कलेजा मुँह को आ रहा है ! उफ़, उस भयंकर काल का मैं सामना कैसे करूँगी !

कल उनके मुक़दमे का आखिरी फैसला था—जीवन का फैसला ! लोभी-लोलुप झूठे गवाहों ने, नर-पिशाच पुलिस के आदमियों ने, और निष्ठुर न्याय-कर्ता की अनीति-मूलक नीति ने उनके जीवन पर हमला कर ही दिया। आज सभी की छाती ठंढी हो गई। दुश्मनों की मूँछें आकाश की ओर उठी हैं, पर हमारे देवता, मेरे जीवन-सर्वस्व, और मुझ-सी अपराधिनी की बात ही क्या ! आज उनके हृदय में कौन-कौन से भाव उठते होंगे, वे कैसी-कैसी विचार-तरंगों में डूबते-उतराते होंगे ? मेरे दिल की हालत क्या है ? आज मैं क्या देख रही

हूँ ? क्या सुन रही हूँ ?—मैं आप नहीं कह सकती । तू कितनी निष्ठुर है, कुंदन ! आह, इतनी निष्ठुर ! इतनी निष्ठुर क्या नारि-जाति, वह भी एक दुधमुँही बच्ची—हो सकती है ? जिस स्वप्न-राज्य में तू विचरण कर रही है, कुंदन, जिससे तुझे मेरे दुःख के सोचने का अवसर ही नहीं मिलता । आज तेरी वह मैत्री कहाँ चली गई ? कहाँ है आज तेरा वह हृदय, जो मुझपर किसी समय फ़िदा था ! जब संसार ही परिवर्तन-शील है, तो तुझमें परिवर्तन होना कौन-सा आश्चर्य है । क्या सच ही तूपहले-सी न रही ! मन को विश्वास नहीं होता, यदि मैं स्वस्थ रहती, सबल रहती, तो आज तुझसे वहीं आकर मिलती, तुझे पकड़ती ! हाँ, पकड़ लेती, और तेरे गुलाबी गालों पर खूब चपत जमाकर उन्हें सुर्ख़ कर देती ! ऐसी बदमाशी ! वह भी मेरे साथ ! अच्छा, कभी मज़ा चखाऊँगी, कुंदन ! तू कहाँ भागेगी ? जब तू मेरी सखी है, हितैषिणी है तो आज न सही कल तो तुझे पकड़ ही लूँगी ! देखना, उस दिन मैं कितनी खरी-खोटी सुनाऊँगी, कितना कोसूँगी तुझे ?

हाय, उस नृशंस जज ने सुना दिया—फाँसी । ओह ! फाँसी ! इतनी सख्त सजा ! किस कसूर पर ? यही कि अपने अनजान भाइयों को, भूले हुए दोस्तों को, अपने घर की राह बताए ! घर में पैठकर बरजोरी चोरी करनेवाले, डाका डालनेवाले

की पोल खोले ! उन लुटेरों से अपने देशवासियों को सावधान करे ! क्या यही जुर्म है ? जुर्म क्या इसी को कहते हैं ? क्या यह जुर्म नहीं कि दूसरे के घर में घुसकर आप मालिक-मुख्तार बन बैठे ? क्या यह जुर्म नहीं कि लोगों को धोखा देकर अपना स्वार्थ-साधन करे ! क्या यह जुर्म नहीं कि किसी के शरीर पर—नहीं, मन पर, दिमाग़ पर—प्रभुत्व स्थापित करके उससे दासत्व का काम ले। क्या यह जुर्म में शामिल नहीं हो सकता, कि देश के रक्त को चूसकर मृतक बनाने को असमय में ही, श्मशान-घाट को भरने के लिये जी-जान से परिश्रम किया जाय ? मेरे देवता ने किसका क्या बिगाड़ा था ? किसके घर में सध मारी थी ? किसके गले पर छुरी चलाई थी ? किसकी बहू-बेटियों पर हमला किया था ? कौन-सा अपराध, कौन-सी खता ! वाह रे न्याय ! और वाह री न्याय की विधायिनी सरकार ! हा-हा-हा-हा !!! मैं क्या कहते-कहते क्या कहने लगी ? पगली हूँ न ! ठीक पगली ! मन से पगली, तन से पगली, वचन से पगली !

मैं भी उस समय वहीं थी। एक पेड़ के नीचे अकेली खड़ी थी। खासी भीड़ थी–लोग टूटे पड़ते थे। टूट पड़े उस समय जब वे तौक लगाए, बेड़ी-हथकड़ी पहिने कचहरी आ रहे थे। आगे-पीछे बंदूकें भरे सिपाही थे, चार-चार सिपाही !

कमर में डोरी थी, दोनों ओर उसे पकड़े हुए वही लाल पगड़ी के सिपाही! जनता ने 'वंदे मातरम्' कहकर उनका स्वागत किया। कितनों ने हृदय का दान दिया, कितनों ने अश्रु-कण से उनका अभिनंदन किया, और कितनों ने उन्हें देखकर नत-मस्तक हो केवल एक आह ही भर दी। और मैं? मेरी क्या पूछती हो, कुंदन! उन्हें क्या पता कि मैं वहाँ थी या नहीं। कहाँ थी—मैं उस वक्त भी नहीं जानती थी—अब भी नहीं जानती हूँ, और आगे भी न जान सकूँगी! मैंने एक बार आँखें उठाकर उनकी ओर अवश्य देखा था। एक बार अचानक चार आँखें भी हो गई थीं! कितनी सांत्वना थी, उनकी आँखों में! कितना धीरज! कैसा साहस! क्या यह किसी मानव-मूर्ति का काम हो सकता है! भला कभी ऐसा देखा गया है? आत्म-समर्पण करना क्या हँसी-खेल है? देखा, मुख पर प्रफुल्लता का प्रकाश था, आँखों में अनुराग का जल था! हृदय में पुनीत स्वदेश-भक्ति थी! और बातों में जादू! कैसी उनकी मस्तानी चाल थी! कैसी मतवाली! मालूम होता था, गर्वोन्नत मस्तक से मानो शत्रुओं पर आतंक जमाने जा रहे हों—विजय-भेरि फूँकने के लिये मानों उतावले हो रहे हों।

आख़िर, फैसला सुना दिया। दसवीं सितंबर! फाँसी!

उस समय 'क्रांति विजयिनी हो', 'भारत माता की जय' और 'धीरेन जिंदाबाद' के नारों से आकाश गूँज उठा। ओह! सिंह-गर्जन! मुझे उस समय यह सोचकर कितना आनंद हुआ, मैं नहीं कह सकती। आनंद की बातें हैं···न? मैं सिंह से ब्याही गई थी, हाँ नर-सिंह से! मैं भी आज सिंहनी हूँ! मैं भी अपने सिंहनाद से आकाश को तो नहीं, नारि-जगत को गुँजा दूँगी, और बता दूँगी कि स्त्रियों के क्या कर्तव्य हैं!

मैं उस समय पगली-सी वृक्ष के नीचे से दौड़ पड़ी न्यायालय के कमरे की ओर! वहाँ तो खासी भीड़ थी! उसमें मैं घुस ही कैसे सकती थी? उसी समय वह गगन-भेदी नाद फिर से हुआ था। वे लौह-शृंखला से बद्ध बाहर लाए जा रहे थे, मैं भी बाहर थी। संयोग था! पुलिस 'हटो-हटो'—का हल्ला मचा रही थी। मुझे भी एक धक्का लगा; पर मैं धक्का खाकर सह जानेवालों में न थी। मैंने उछलकर उसकी पीठ में एक धौल जमा ही दी। देखो मेरे साहस को! लोगों का ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ। एक बार 'वंदे मातरम्' की गूँज फिर उठी, उसी समय उनकी भी नजर मेरी ओर, मुझ-पर—पड़ी और उन्हीं के मुख से मुझे सुन पड़ा—'जीती रहो, देवि!' यह आशीर्वाद था या अभिशाप, मैं नहीं कह सकती। मैंने कहा—'जीती रहने को कहते हो, मेरे देव! और तुम्हें

छोड़कर ? यह तुम्हारा अभिशाप कैसा ? यह तुम्हारी क्रूरता कैसी ?' मन में विचार उठा—'हाँ, मानव-रूप में न सही, आशीर्वाद सफल करने को सूक्ष्म रूप में अवश्य जीती रहूँगी।'

उसके दूसरे दिन मैं बहुत कोशिश और व्यय करने के बाद जेल में गई। देखा, बहिन, दुर्गंधपूर्ण अंधेरी कोठरी में एकांत पड़े हुए। निष्ठुरता—क्रूरता की हद थी! मानव-जाति पर मानव-जाति का वह उत्पात! मैं सहम गई, काँप उठी! मगर, वे हृदय के कितने विशाल हैं? उन्होंने कहा—'ओह, तू पगली हो गई! मेरी इस दशा को देखकर तू जीती रह! मेरी पगली!'

'जीती रहूँगी।'—मैंने कहा—'तुम्हारा यह आशीर्वाद है तो जीती रहूँगी। आज्ञा-भंग मैं कैसे करूँ, मेरे पागल!'

उन्होंने कहा—'मेरी सुधा, मेरे लिये तुम्हें कितना कष्ट उठाना पड़ा? ओह! कितना?'

मैंने बीच ही में बात काटकर कहा—'मेरे ही लिये, हाँ, केवल मेरे लिये ही तुम्हें अवश्य कष्ट उठाना पड़ा, मेरे सुधांशु!'

'नहीं, देवि! मैं तो पहले ही से इस पथ का पथिक था।'

'और मैं भी तो जान-बूझकर इस पथ की पथिका बनी! याद है न उस दिन की बात!'

'हाँ, याद है। तू नारी नहीं, साक्षात् देवी की प्रतिमा है।'

'ऐसा न कहो। चिढ़ाओ मत, मेरे प्राण-वल्लभ !'

इसी समय सर्जेंट ने कहा—'बस करो, अब मिलने का समय नहीं है। जाओ।' मैं तैयार हो गई, आँखों में आँसू छल-छला आए, मगर, उन्होंने कहा—"देखना, कर्तव्य-च्युत न होना, सुधा ! यह मेरी नहीं, तेरी प्रतिज्ञा का समय है।'

मैंने जाते-जाते कहा—'मैं सावधान हूँ, मेरे सुधाकर, कभी संदेह न करना।'

कल ही वह दसवीं तारीख है। प्रातःकाल से ही मैं इसकी तैयारी कर रही हूँ। आज तो मुझपर किसी ने विषाद का चिह्न तक न देखा। मैं हसती हूँ—बातें करती हूँ, कभी गाने लगती हूँ, कभी मचल जाती हूँ ! लोग कहते हैं—'इसे मानसिक विकार हो गया है ! पगली हो गई है।' पर, मैं कहती हूँ—'मैं पगली नहीं, न तो पागलों का कोई चिह्न ही तुझमें प्रतीत होता है।' इसी बीच में तेरा भी स्मरण हो आया। मुझको भला इस समय—इस सुनहले समय में भूल ही कैसे सकती हूँ ! यह पत्र तुझे उस समय मिलेगा, जब मैं उनके साथ......... । अच्छा, सुखी रहना, कुंदन, जीवन की सार्थकता इसी में है। नहीं तो, मरता-जीता कौन नहीं ? कैसी भाग्यशीला हूँ मैं ! कितनी नारियाँ मुझपर ईर्षा करेंगी, कितनी कटें-मरेंगी ? आज मैं अगाध अकूल प्रणय-सागर को संतरण करने चली

हूँ, डूबती-उतराती हूँ। मंगलमय पिता मुझे वह अवसर शीघ्र प्रदान करें और मुझे ऐसा बल दें, जिससे मैं अपने पथ को पकड़े रहूँ उससे विचलित न होऊँ। कुंदन, जी चाहे तो मुझे भुला देना—भुला ही देना! क्योंकि, स्मृति बोझ-सी हो जायगी—यह स्मृति हृदय को टूक-टूक कर देगी। इस स्मृति को लेकर कभी सुखी न रह सकोगी। अंतिम समय में तुझसे यही अनुरोध करती हूँ कि किसी 'हिंदू देवता' से अवश्य पाणि-ग्रहण कर लेना, और यत्न करना कि, हमारी बहुत-सी बहिनें नारकीय पाप-पंक से उद्धार पाकर गृहिणी के रूप में सात्विक जीवन व्यतीत करें, मैं तुझसे और कुछ नहीं चाहती, कुंदन! तेरी इतनी-सी सेवा से ही मेरी आत्मा परितोष लाभ करेगी।

अब, तुझे पत्र लिखने का कभी कष्ट न दूँगी। तू जिस बात के लिये बिगड़ा करती थी, अब तो कभी न बिगड़ेगी! एक बार देखने को जी करता है, पर ऐसा न हो सकेगा। यदि कुछ समय मिल जाता, तो मैं तुझे बुला ही सकती थी! अब तो तार देने से भी तुझे नहीं पा सकती! अतएव, यह मेरी अभिलाषा मेरे साथ ही जा रही है। अच्छा, वहाँ भी तो कभी तुझे चूमूँगी ही।

उनकी........वही—
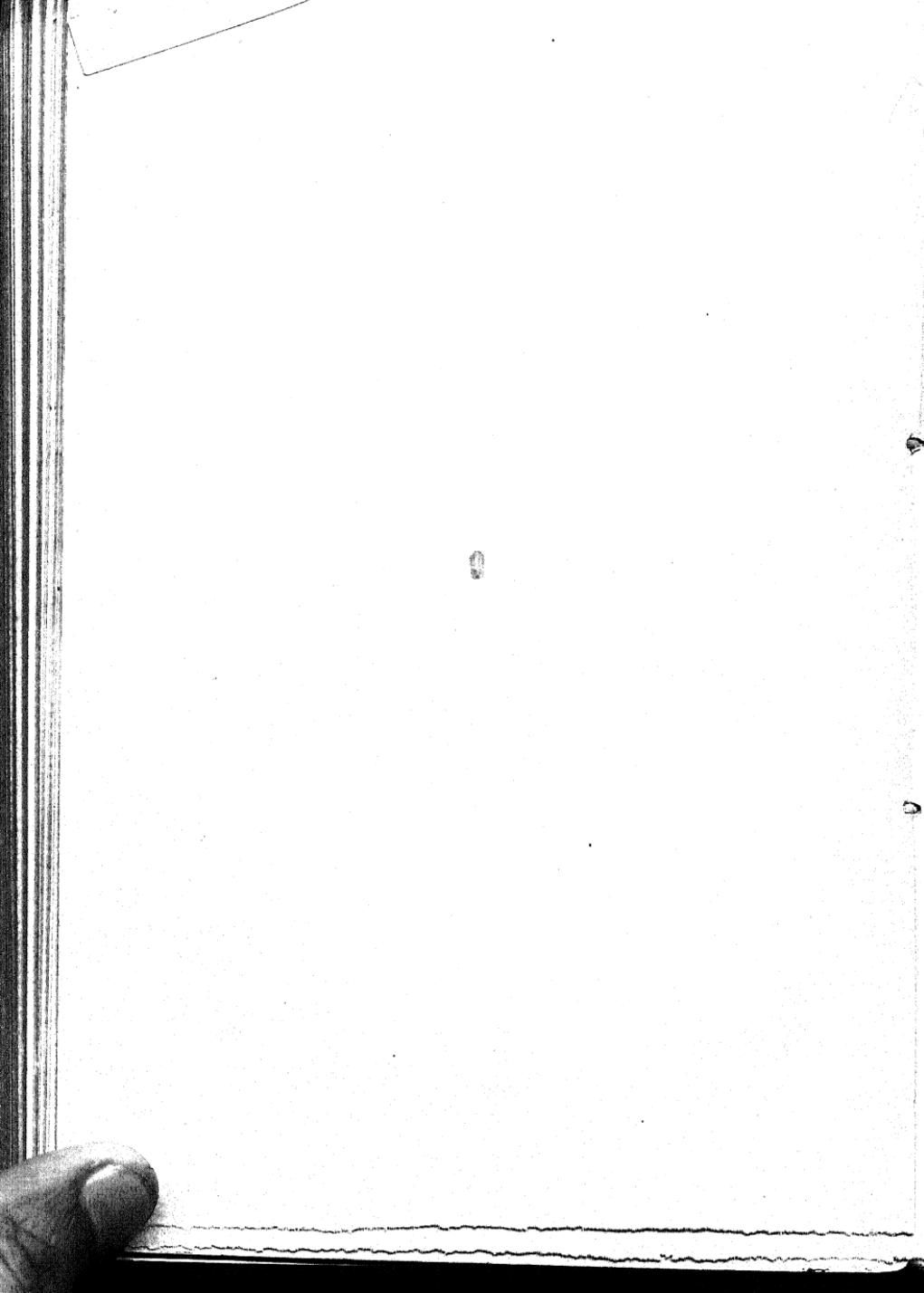
सुधामयी

पत्र-१७

श्रीयुत रामकृष्ण वर्मा

हजरतगंज,

लखनऊ।

अभिन्न-हृदय,

अनंत हृदय-स्पर्श ! संभवतः मेरे जीवन का यह अंतिम पत्र है ! मेरे नश्वर-शरीर का अब ठिकाना नहीं । कब इसका अंत हो, कह नहीं सकता । पर, इतना अवश्य है कि, यदि मेरे आत्म-बलिदान से किसी का कुछ उपकार-साधन हो सका, तो निश्चय है कि हमारी मृत्यु—आनंददायक मृत्यु—जिसकी प्रतीक्षा में मैं बहुत दिनों से था, बड़ी ही सुखद होगी, मेरे कृष्ण ! मेरे विषय में चिंता—विषाद—करने का अवसर न रहा, और, आगे भी विषाद के गह्वर में अपने को विलीन मत करना ।

निर्णय हो गया—मेरे भाग्य का निपटारा हो चुका । मुझे इधर आज्ञा ही न थी कि मैं किसी को अंतिम पत्र तक लिख सकूँ । पर, आज, अभी-अभी जेलर महाशय पधारे थे उनकी आज्ञा थी—'देखो जी, जिससे मिलना चाहो, या जिसे तुम पत्र लिखना चाहो, लिख सकते हो—मिल सकते हो । कल तो तुम्हारी......... !' थी तो मुझपर यह आज्ञा, पर मैं समझता

हूँ, यह मुझे पुनीत अवसर प्रदान किया गया है—कुछ स्मृति-चिह्न छोड़ जाने के लिये। फल-स्वरूप, तुम्हें दो-चार लाइनें अंतिम वार, लिख देना परमावश्यक समझता हूँ। इससे तुम्हें परितृप्ति होगी या नहीं, मैं नहीं कह सकता, पर इससे मैं परितृप्त हो गया हूँ। इसीलिये मुझे आशा ही नहीं, विश्वास है कि इससे तुम्हें संतोष तो अवश्य ही होगा। आह! यदि यह आज्ञा कुछ पहिले ही मिली होती। यदि यह सुअवसर पहले ही मिला होता—तो आज मुझे कितना आनंद होता! कम-से-कम मृत्यु-काल में तुमको पाकर मैं कितना सुखी होता? कौन भला इस आनंद का उपभोग कर सकता है? कौन इस आनंद को व्यक्त करने में सफल हो सकता है? हाय! आज मेरे लिये वह दिन कहाँ है?

जिस तरह सुख-दुख जीवन में अवश्यंभावी है, उसी तरह जीवन-मृत्यु! फिर इन अवश्यंभावी बातों के लिये सोचना-कुछ चिंता करना ही—नितांत मूर्खता है! संसार माया-ममता का भांडार है! विश्व वेदनामय है! यहाँ आनंद, परितृप्ति, उल्लास आदि मानो कुछ काल के लिये लुभाने आ जाते हैं। सच तो यह है कि जहाँ पर और जो कुछ भी सुख उपलब्ध हो सकता है उसने वहीं चिर-वांछित मृत्यु को अपना बना लिया है। जो मृत्यु से भय खाता है, इसके नाम से थर्रा उठता है, उसे इस जीवन-

काल में, नहीं, परकाल में भी सुख के दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते। वह इस जीवन की मृग-मरीचिका में—पड़ा रहता है, सुखों की खोज करता है, पर नाम को भी सुख प्राप्त नहीं हो सकते। सुखों की निधि—शांति, उसे छूने भी नहीं पाती! फिर, जो सत्य है, सदा से चला आता है, और सदा चलता रहेगा, उसके लिये सोचना—उसके लिये रोना—उसके लिये बिलखना—पागलपन नहीं तो और क्या है?

तुम कह सकते हो, आग में कूद पड़ना, जान-बूझकर धधकते अंगारों पर चढ़कर चलना भी कोई बुद्धिमत्ता है, कोई खेल है? हाँ, सच है! पर, जो यह खेल खेलना चाहता है, वह तो इसका विचार नहीं करता, कि इससे मेरे पैर झुलस जायँगे—इससे सारी देह जलेगी, इससे आत्मा को कष्ट अनुभव होगा। ज़रा तुम्हीं विचार करो, कष्ट है क्या चीज़? कष्ट तो हृदय की एक कमजोरी-मात्र है—भावना है, अपनी एकांत-चिंता का फल है। पर, जो कष्ट को कष्ट ही अनुभव नहीं करता, कष्ट को—आपदाओं को—अपने जीवन की विभूति समझता है—फिर उसके लिये कष्ट रही कहाँ जाता है? उसके लिये वह कष्ट मार्ग-दर्शक बन जाता है, वह कष्ट उसे आनंद का उपभोक्ता बनाने में समर्थ होता है? मैंने जीवन-मृत्यु के रहस्य पर विचार किया है, और जहाँ तक उससे मैं निष्कर्ष निकाल सका हूँ, वह यही है

कि जिस तरह जीवन सुख का देनेवाला है, उसी तरह मृत्यु भी शांति देनेवाली है।

मैंने अपने थोड़े से जीवन-काल में जो-कुछ किया है, वह नेक-नीयती, ईमानदारी और देश की पुकार कर ध्यान देकर ही किया है। इस सिद्धांत से मैं एक पग भी पीछे हट नहीं सका था, न पीछे हटने की कभी मेरी वांछा ही थी। हो सकता है, मैं भ्रांति में होऊँ! हो सकता है, मेरी धारणा भ्रमात्मक हो, पर इतना तो निश्चय है कि मैंने जो कुछ किया था, खूब सोच-समझकर, अच्छी तरह जान-बूझकर। तुम कह सकते हो, माता-पिता को दुखीकर········। हाँ, कष्ट तो मैंने अवश्य दिए हैं, पर, इसका मुझे रत्ती-भर भी दुःख नहीं हैं। क्योंकि, मैंने एक अबला का उद्धार किया है एक रमणी को पाप-पंक से निकालकर मनुष्य बनाया है। क्योंकि, मैंने इस कृत्य से संकीर्ण पथ को प्रशस्त किर दिया है, जो हमारे समाज का, आगे चलकर, उद्धार कर सकता है। क्योंकि, देश की माँग ऐसी ही थी। क्योंकि, दीनों की पुकार इसी के लिये हृदय-गगन में गूँज रही थी। इसलिये मुझे ऐसा करना पड़ा। इसे मैंने स्वार्थ-साधन के लिये नहीं किया। इसे मैंने वैभव-विलास या सुख-उपभोग के लिये नहीं किया। और दूसरा कार्य जो मैं शायद इससे भी अधिक कर

सकता था, वह युवकों की जागृति थी ! जिसकी मैं नितांत आवश्यकता समझता हूँ, और आगे भी समझता ! देश की दशा को ज़रा देखो, ज़रा इस पराधीन जाति पर विचार करो। एक ओर विश्व किस तेजी से आगे बढ़ता जा रहा है, किस तरह अपने मैदान में एक दूसरे को प्रतिद्वंद्वी समझकर, स्पर्द्धा से अपना नंबर मारने की धुन में पड़ा है, और दूसरी ओर हमारा भारत, दीन-दुखियों का अड्डा बन रहा है। गुलामी का तौक गले में पहिने—नाक तक का कीड़ा बन जाने पर भी, अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सक रहा है। क्या कभी किसी ने इसपर विचार किया है ? क्या कभी तुमने ही इस विषय पर विचार किया है ? कुछ सोचो ! फिर, विचार करो, मैंने जो कुछ किया है, किस विचार से प्रेरित होकर ! तुम समझोगे, यह मेरा पागलपन था ! तुम कहोगे—एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। ठीक है, पर, इतना तो अवश्य होगा कि हमारी मृत्यु के बाद भावी संतानें इसपर कुछ तो विचार कर सकेंगी ! इतना तो अवश्य सोचेंगी कि हमारी मृत्यु का कारण क्या रहा है ? इतना तो अवश्य विचार करेंगी कि प्राणों का मूल्य क्या है ? माना कि, इससे तुरत प्रभाव नहीं पड़ेगा, माना कि अभी इसपर विचार करने के लिये खोपड़ी तैयार न हो सकेगी, फिर भी, कभी तो यह बात उनके दिमाग़

में धँसेगी। आज न सही, वे कल तो इसका मूल्य समझेंगे! थोड़ा इसपर मनन करो, मेरे कृष्ण!

परसों 'सुधामयी' भी आई थी! आह! कितनी करुणा थी उसके मुख पर, ओह! कैसा स्वार्थ-त्याग! सच कहता हूँ, भैया, वह वेश्या-पुत्री होने पर भी देव-कन्या है। स्वर्ग की देवी है। क्या ऐसा आत्म-समर्पण—ऐसा स्वार्थ-त्याग कहीं दीख पड़ेगा! फिर कोई कैसे कह सकता है कि, वह पाप-पंक की कीट है। कितने स्वार्थी हैं हम लोग! अपने सामने किसी को कुछ लगाते ही नहीं! पर, हाय, उसकी अब क्या दशा होगी? वह किसके बल पर यह विषाक्त यौवन काट सकेगी? मैंने उसे उस दिन भी समझाया था, पर, कितनी उदार है वह? उसने मेरे फैसले पर—मेरे भाग्य के निर्णय पर—आँसू तक न बहाए, कभी आह तक न की! उसने तो मेरे हृदय को और भी वज्र का बना दिया। जब कभी मुझे ममता आ जाती थी, जब मैं माया के फेर में पड़ जाता था, उस समय वह संसार की अनित्यता का पाठ पढ़ाने लगती थी। कहती थी—'पुरुष होकर क्यों भीरु हो रहे हो! मानव-जाति में जन्म लेकर—श्रेष्ठ कहाकर क्यों मूढ़ बन रहे हो?' यह है उसके हृदय का पवित्र निर्मल उच्छ्वास! यह है उसके हृदय की स्वर्गमयी छाया! पर, यह सब होते हुए भी मैंने उसके लिये क्या किया? और, आगे

उसके लिये क्या करने जा रहा हूँ ? क्या मैंने उसके लिये कोई आधार रख छोड़ा है ! मुझे यह समस्या कभी हल होनेवाली नहीं दीखती । अब, तुम्हीं इस पहेली को सुलझा सकते हो, तुम्हीं इस समस्या को हल कर सकते हो । मैं सारा भार तुम पर—तुम्हारे निर्बल कंधों पर—लादकर चिर विश्राम लेने जा रहा हूँ । आज मैं यद्यपि तुम्हें विपत्ति के गंभीर गर्त में डालने जा रहा हूँ, तथापि, भरोसा है, तुम उस देवी का और अपने इस स्वर्गीय बधु के बंधुत्व का निर्वाह जीवन बेचकर करोगे । यह आशा नहीं, आंतरिक विश्वास है ।

आह ! शोक-संतप्त माता-पिता को छोड़कर—निरवलंब छोड़कर—मैं शांति की खोज में जा रहा हूँ । कितना स्वार्थी हूँ मैं ? मैंने कभी उनपर विचार तक न किया । कभी मैंने वृद्ध माता-पिता के आँसू नहीं पोंछे ! मैं सुखी हो सकूँगा या नहीं—नहीं कह सकता । भगवान् के घर में मैं कितना पातकी समझा जाऊँगा, मुझे कैसा दंड मिलेगा ! ईश्वर ही जाने । पर, करने ही से क्या होता है ! कौन किसका माता-पिता है, और कौन किसका पुत्र ? संसार कर्ममय है । सभी कर्म करने के लिये आए हैं, सभी को अलग-अलग कर्तव्य करने का अधिकार है ! फिर, मैंने जिसे अपना कर्तव्य समझा—किया । हो सकता है, मैंने अकर्तव्य को ही कर्तव्य समझ लिया हो ! हो सकता है,

कर्तव्य के नाम पर मैंने बहुतेरे अत्याचार किए हों ! स्वीकार है। पर, विश्वास है, मैं कर्तव्य-च्युत नहीं हुआ था। जब माता-पिता ने बोझ-सा समझकर मुझे घर से बाहर कर दिया और इतने पर भी मैं बराबर उनके दुःख-सुख की ओर टकटकी लगाए रहा, तब कोई कैसे कह सकता है कि, मैंने उनके साथ अन्याय किया है ! अन्याय ही सही, पर अब इस विवाद से क्या ?

हाँ, रह गई एक प्रार्थना तुमसे करने को। तुम मेरे विषाद-ग्रस्त परिवार को सांत्वना देना, मेरे स्थान की क्षति पूरी करना। क्योंकि, तुम भी तो उनकी संतान ही हो न ? और, जरा इस दुखिनी......! माता-पिता तो अब भी उसे स्वीकार न करेंगे, अब भी उसे उसी दृष्टि से देखेंगे, जिस दृष्टि से वे लोग देखते आ रहे हैं। अतः, वहाँ रहने, उनकी सेवा करने का तो शायद अवसर ही न आएगा। वह अपने जीवन को—इस विषम यौवन को—एकाकिनी तपस्विनी के रूप में, यहीं—मेरे बँगले पर—काटेगी। इसी को अपना उपा-सना-मंदिर समझेगी। तुम्हारा कर्तव्य है—नहीं, अधिकार है, कि कभी-कभी तुम उसे उचित संमति देकर अच्छी राह पर चलाना ! और, हो सके, तो उसकी आवश्यकताओं को मिटाना। क्या इतनी-सी सेवा तुमसे न हो सकेगी ? यह अनंत प्रवास में जानेवाले तुम्हारे धारू की अभिलाषा है, मेरे राम !

हाँ, एक बात और। तुम भी कभी पागलपन का काम न कर बैठना, जैसा मैं किए जा रहा हूँ। क्योंकि वह अवसर शीघ्र आनेवाला है, जब देश की आँखें इधर फिरेंगी! कोई माई का लाल ऐसा जरूर निकलेगा, जो इसकी कायापलट कर दे। उस दिन इस बूढ़े भारत की दशा क्या होगी? जानते हो? कितना सुखकर वह युग होगा! कैसा स्वर्गोपम! यह कल्पना की अव्यक्त रेखा है। यह व्यक्त होनेवाली कहाँ!

हाँ, फिर सावधान करता हूँ, तुम पागलपन न कर बैठना मेरी स्नेहशीला भाभी किसपर संसार काट सकेगी! मेरे दुलारे बच्चे किसका मुँह देखकर अपना शैशव बिताएँगे? हमारे वृद्ध माता-पिता किसका मुँह देखकर अपना बुढ़ापा खेएँगे? मेरे प्रेम की प्रतिमा सुधा की सुधि लेनेवाला फिर कौन रह जायगा? तुमपर, समझ लो, कितने बोझ हैं! तुम स्वाधीन—स्वतंत्र—नहीं हो! तुमपर कितनों की आशाएँ अटकी हैं। तुमपर कितनी आत्माएँ टिकी हैं! जरा विचार करना, भैया! हाँ, एक बात और कहे जाता हूँ। जिस दिन मेरे माता-पिता संसार से उठ जाएँगे। जिस दिन 'सुधा' इस संसार से चल बसेगी, उस दिन मेरी संपत्ति का एक-मात्र उत्तराधिकारी होगा—विमल—मेरा प्यारा विमल (बच्चन)। मैं उसके प्यार में, अपना जीवन तो नहीं, इस क्षुद्र संपत्ति को

ही भेंट करता हूँ। और, यदि आवश्यकता आ पड़े तो बनारस-वाली कोठी स्वराज्य-दल को सौंप देना। जिससे देश-सेवा के कार्य को कुछ ही टेक मिल जाय! समझूँगा, इतने ही से मैं अपनी माँ की प्यास कुछ बुझाने में समर्थ हो सका हूँ।

अब, और विशेष क्या लिखूँ! मेरी पुण्य-शीला भाभी से मेरा अंतिम प्यार कहना और मेरे बच्चों को मेरी ओर से इच्छा-भर चूम लेना। अहा! मैं उन्हें अपनी गोद में लेकर सुखी न हो सका! यह मेरा अरमान, अब, मेरे साथ ही जा रहा है! ओं३म् शम्।

चिर-वियोगी—

धीरू

पत्र-१८
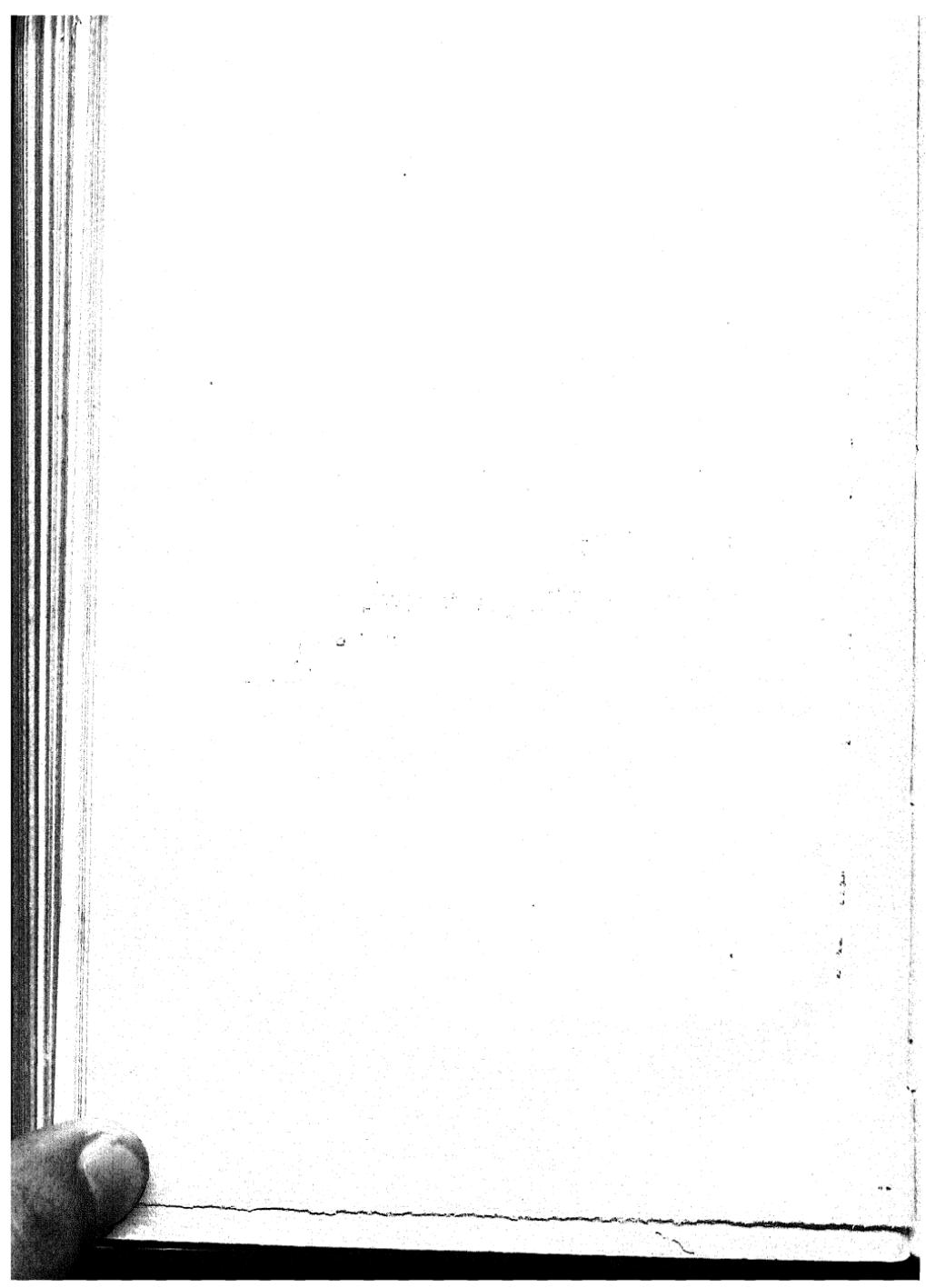
श्रीयुत धीरेंद्र कुमार वर्मा,

अनंत-पथ,

अमरलोक ।

यशः शरीरेषु,

अनंत प्यार ! निस्सीम स्नेह-स्पर्श ! लोग मुझे पागल कहते हैं, बच्चे मुझे पागल समझकर मेरे पीछे दौड़ते, हो-हल्ला मचाते, और रोड़े बरसाते हैं, हँसते हैं, चिढ़ाते हैं। स्त्रियाँ मेरी दशा पर क्षुब्ध हो मूक-रुदन करती हैं, आँसू बहाती हैं, आहें भरती हैं । संतप्त आहें ! क्या दुनिया पागल तो नहीं हो गई, अथवा मैं ही तो पागल नहीं हो गया, किससे पूछूँ ? कौन इसका निर्णय करे ? एक तुम थे, चारो ओर खोजता हूँ । तुम्हें ढूँढ़ता हूँ, घर में, घर के कोने में, बँगले में, वाटिका में, लता-कुंज में, नदी-किनारे, बनारस में, कालेज में, गंगा के किनारे, जेल में, जेल की श्मशान-भूमि में। पर, कहीं भी तो पता चले ! कोई तो तुम्हारा पता बतावे ! हैरान हो गया, परेशान हो गया, शरीर शिथिल हो गया। पाँव में छाले पड़ गए—फफोले फूट गए, तुम्हारा कहीं पता न पाया। हाय ! तुम गए कहाँ ? यह आँख-मिचौनी कैसी ! यह नखरा कैसा ? यह बाल्य-चपलता कैसी ! इसपर दुनिया कहती है—'तुम पागल हो।' तुम्हीं बताओ—मैं पागल हूँ ! या वह पागल है, जो मुझे पागल के नाम से पुकारता है !

उस दिन तुम्हारी पत्री आई थी। मैं बच्चे को खेला रहा था, तुम्हारी पगली मेरे बगल में मुसकान-भरी चितवन से मेरी ओर निहार रही थी। डाकिये ने पत्र दिया, उठाया, उठाया उसे बड़े अरमान के साथ! पर, मैं नहीं कह सकता, कैसा जादू था उसमें, जिसके छूते ही मैं अपने आपे में न रह सका। उसी दिन से तो लोग मुझे पागल कहते हैं। तुम्हारी भाभी रोते-रोते खाना-पीना भुला बैठी। बच्चे उदास आँखों से हम लोगों को निहारा करते हैं। उन्हें क्या पता कि संसार की वायु किस रुख पर बह रही है? वे बेचारे क्या जानें! इसे मैं समझता हूँ न— या वह पगली जो तुम्हारे नाम पर रोया करती है—हाँ, केवल रोना ही। दुनिया को रोते देखा, पर ऐसा नहीं—ऐसा नहीं धीरू! क्या उसके लिये तुमने रोने का मसाला ही उस खत में भर-कर भेजा था—आह, अभागी उस चिट्ठी में! खूब किया था! बड़ा हँसा करती थी—बात-बात में हँसी! हाय! उसकी वह हँसी, जिसपर मैं दुनिया के दुख-दर्द को भुला बैठता था, कहाँ गई! कहाँ गई वह हँसी-खुशी! यह परिवर्तन! इतना अंधेर!

तुमने खूब किया। तुम तो पुरुष थे, पुरुषोचित ही काम भी किया। पर, शिखंडी तुम्हारा आदर करना क्या जानें! लोग कहते हैं—'उच्छृंखलों की यही दशा होती है!' मैं कहता हूँ—'उच्छृंखल ही तो संसार को एक सिरे से नया बनाना जानते

हैं ! उन्हें गड़े मुर्दे उखाड़ना कब पसंद आए ! वे क्या खाक समझेंगे तुम्हें, जो स्वयं विलासिता में जकड़े हैं, जो गुलाम होकर शाहंशाह-सी बातें बघारने में जमीन-आसमान के कुलावे एक किया करते हैं ।' इसीलिये तो, लोगों से हमारी पटती नहीं। इसीलिये तो, लोग मुझे पागल कहकर चिढ़ाया करते हैं । अरे बेवकूफ़ो ! तुम्हारी अक्ल देखकर मुझे दया आती है । रात-दिन जूते खाते हो, सात पुरुषों को गाली दिलवाते हो, इतने पर भी शेखी बघार रहे हो ! है कोई मूर्ख तुम-सा इस दुनिया में —इस धरती पर ! ईश्वर दया करे, तुम्हारी इस भोंड़ी और भद्दी अक्ल पर !

हाय ! धीरू, मैं पिताजी के साथ तुम्हारी खोज में निकला। पर, तुम्हारी सूरत तो दूर रहे, उसकी छाया तक कहीं नहीं दीख पड़ी ! तुम्हारी 'सुधा' को खोजा, पर उनसे भी भेंट न हुई । पिताजी का विचार था—चाहे धीरेन न मिले, न सही, पर उसकी बहू ही मिल जाय, तो समझूँगा, सहारा मिल गया—अंधे की लकड़ी मिल गई। पर वे भी कितनी निष्ठुर थीं ! आखिर, उन्होंने भी तुम्हारे ही मार्ग का अवलंबन किया । मैं पिताजी के साथ जेल तक आया, जेल-श्मशान तक गया, पर, तुम दोनों में कोई भी वहाँ न मिला ! हाँ, लौटते समय, एक बूढ़े कांस्टेबल से भेंट हुई । इच्छा तो न थी कि उससे कुछ बातें करूँ, पर, उसी ने

पूछा—'किसे खोजते हो ?' पिताजी बोल उठे—'किसी की फाँसी......!' वे इतना ही कहने पाए थे कि बूढ़ा बोल उठा—'आह, साहब, उसकी बात क्या चलाते हो ! वह तो मर्द था ! मस्त बहादुर ! बहुतों को देखा, पर, वह तो वही था। हाँ, वीर था वह ! जो कभी न देखा, वही बुढ़ापे में, आखिरी वक्त देखा। हाँ तो वह तुम्हारा.........।'

पिताजी ने छाती पीटकर कहा—'इकलौता बेटा था मेरा !'

'बेटा'—बुड्ढा बोल उठा—'बेटा था तुम्हारा, भाई ! तो तुम बड़े पुण्यात्मा हो, बड़े, भाग्यवान् हो। वह तो सिंह था, दहाड़ थी उसकी आवाज में। पर, हृदय का वह कोमल ! कैसा सुकुमार ! आह, कितना भोला-भाला ! कोई कभी विश्वास कर सकता है कि वह षड्यंत्र में शामिल होगा ? यह तो है, सरकार की अंधी आँख जो बिना समझे-बूझे किसी को बेमौत मारती है। वह नन्हें बच्चों की तरह हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर लटक गया ! आह, कितना हँसमुख था वह ! कौन कह सकता है कि उसके मुख पर ज़रा भी विषाद की काली रेखा थी ! स्वर्ग जाने को मानो वह आतुर हो रहा हो ! फाँसी से उतरने के बाद भी, उसके ओठों पर, आह, वही मधुर हँसी थी ! वही सुंदरता थी, उस चेहरे पर ! हाँ, उसने भी शाबाशी का काम कर दिखाया—हाँ, एक सुकुमार लड़की ने ! बड़ी ही कमसिन, बड़ी

ही खूबसूरत ! आह, बड़ी ही नाजुक ! शायद उसकी स्त्री थी। आई, उसने उसकी लाश को—आह ! ठुकराई हुई लाश को—उठाया, छाती से लगाया, माला पहिनाई, मुँह चूमा ! और उसी समय न जाने कहाँ से कटार निकालकर अपनी छाती में भोंक ली। देखनेवाले देखते ही रह गए। वह भी छटपटाकर उसी लाश के पास सो गई। आह ! सोई ही रह गई ! पर, एक बार नाम के लिये भी उसके मुख से एक हलकी चीख तक न निकली। उफ् ! उस समय उस जोड़े को देखकर पत्थर तक रो पड़े थे, फिर लोगों का क्या पूछना ! धन्य हो, भाई तुम, जिसने ऐसा लाल पाया, जिसने ऐसी पुत्र-बधू पाई ! आह !!!'

उस समय हम लोगों की क्या हालत हो गई थी, कौन बता सकता है। लोग तो पागल कहते ही हैं, फिर पागलों का पूछना ही क्या !

मैं पिताजी के साथ खोजते-खोजते लौट आया, अब भी खोज रहा हूँ, और आगे भी न जाने कब तक खोजता रहूँगा—कौन कह सकता है। पर, तुम कभी फिर दीख पड़ोगे ? दीख नहीं पड़ोगे ? धीरू !

तुम बड़े भाग्यशाली थे, धीरेन ! वैसी ही थी तुम्हारी वह 'सुधा' भी। रह गया मैं अभागा ! अच्छा, देखा जायगा। तुमने भी तो बड़े-बड़े बोझ मुझपर लादे हैं। यदि मैंने कभी भी इससे

अवकाश पाया तो फिर तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन कर ही डालूँगा—चाहे, मुझपर अप्रसन्न ही क्यों न हो ! वाह रे तुम ! तुम तो मौज उड़ाने को जाओ वहाँ, और मुझे बतलाओ—'खबरदार ! कभी ऐसा काम न करना !' खूब लिखने चले ! यदि आज मैं तुम्हें पा लेता तो तुम्हारी खूब खबर लेता ! पर, तुम तो भाग ही निकले, तो अब वश ही क्या है ?

हाय ! रोना ही तो रह गया एक अवलंब ! जन्मते रोया था, अब भी रोता हूँ और शायद मरते दम तक रोऊँगा। तुम खुश रहो............।

हाँ, यह पत्र तुम्हें मिलेगा या नहीं, संदेह है। संदेह हो क्यों न ! जब कि तुम मुझसे अज्ञात हो, अनंत गह्वर में लीन हो, कहाँ हो, कैसे हो—कुछ पता नहीं। फिर बेपते की चिट्ठी जाय तो कैसे और कहाँ ? फिर भी भरोसा है ! पत्र तुम्हारे स्मृति-सलिल में छोड़ता हूँ, कहीं बहाव में पड़कर तुम्हारे हाथ लग गया, तो मेरे भाग्य का कहना ही क्या ! मुझे निश्चय है—तुम देवता हो। देवता पत्र-पुष्प की गंध पाकर ही प्रसन्न हो जाते हैं, फिर इसकी गंध तुम्हें कैसे न मिलेगी ! अवश्य मिलेगी उसी दिन मैं भी क्या तुम्हारी तरह देवता न समझा जा सकूँगा ?

वियोगी—पागल—तुम्हारा—

कृष्ण